प्रकाशक—

इन्द्रचन्द्र नारंग

हिन्दी-भवन

२१२ रानी मंडी,

इलाहाबाद ३

पहला संस्करण सितंबर, १९५०

दूसरा संस्करण मार्च, १९५३

तीसरा संस्करण अक्टूबर, १९५७

सूत्रधार

कला, साहित्य, विज्ञान, धर्म और दर्शन का लक्ष्य और प्रयोजन हमारे विचारकों और ऋषियों ने हमारी सभ्यता के उषःकाल वैदिक युग में ही जो स्थापित कर दिया, सूत्र रूप में वह जीवन के प्रति आग्रह, अनुराग और आकर्षण कहा जा सकता है। चिकित्सा और औषध विज्ञान से ले कर वेदान्त दर्शन तक, संगीत, काव्य, चित्र, स्थापत्य, विज्ञान और विद्या के सभी क्षेत्र इसी एक मूल मंत्र की साधना में लगे देख पड़ते हैं। जीवधारी की मृत्यु बराबर देख कर भी, मृत्यु के भय से मुक्त करने के लिए अथवा मृत्यु के पंजे से जीवन की रक्षा करने के लिए प्राणिशास्त्र और मनोविज्ञान के उन सत्य सिद्धान्तों को तत्त्वद्रष्टा ऋषियों ने खोज लिया जो पश्चिम में फ्रायड और दूसरे मानसविज्ञान के पण्डित इस युग में खोजने लगे हैं। साहित्य सिद्धान्त के आचार्य भरत और कामशास्त्र के महर्षि वात्स्यायन ने ईसा पूर्व प्रथम या द्वितीय शतक में मानसविज्ञान के जिन गहन तत्त्वों के अनुभव और उद्गम का निरूपण किया था उनका बीज वैदिक साहित्य और उपनिषद् धारा में पहले से ही चला आया था। मंत्रद्रष्टा ऋषियों के निष्कर्ष को वैज्ञानिक आधार भरत और वात्स्यायन ने दिया।

हमारे पुराने साहित्य का सर्जन न कल्पना से हुआ न तर्क या बुद्धि चिन्तन से। मनुष्य का जीवन प्रकृति से पृथक् कर नहीं देखा गया। जीव-विज्ञान और मानस विज्ञान के आधार पर मानवीय

भावनाओं, मनोवेगों, इच्छा आकांक्षाओं का मूल स्रोत इस देश के कला साहित्य के रूप में अवतरित हुआ। तत्त्वदर्शी विचारकों ने देख लिया कि जगत का व्यवहार शुद्ध बुद्धि पर न चल कर नैसर्गिक भाव स्पन्दन पर चल रहा है। फल यह हुआ कि बुद्धि को भाव की चेरी बन कर रहना पड़ा। क्या होना चाहिये? यह प्रश्न लोकजीवन में नहीं उठा। क्या है? इसके उत्तर में कहा गया—जीवन, इन्द्रधनुष की तरह बहुरंगी, सभी रंग पृथक् फिर भी एक दूसरे के सहकार में। जीवन का जन्म इसी धरती पर हुआ था और इसका अन्त भी इसी पर था। जीवन की कामना इसी धरती की प्रकृति की कामना बनी। इस धरती को छोड़ कर किसी कल्पित स्वर्ग में जीवन की कामना अथवा इसे भूल कर आत्मा के पंखों पर स्वर्ग में उड़ जाने की प्रवृत्ति न तो हमारी स्मृतियों में है और न हमारे साहित्य में। मृत्यु के बाद फिर जन्म आज का वैज्ञानिक जगत माने या न माने, कम से कम इसमें इस जीवन और जगत के प्रति अनुराग है तभी तो यहां फिर आने की कामना है। वर्ण और आश्रम का विधान, आज प्रतिक्रियावादी भले कहा जाय पर प्रगति को गति और बल देने के लिए ही इसकी प्रतिष्ठा हुई थी। हम धरती के जीव हैं, इसी से उद्भूत हैं और इसी में [illegible] हैं, [illegible] में [illegible] और [illegible] का [illegible] नहीं है। [illegible] ?

मनुष्य सबसे पहले शरीरी है। शरीर के प्राकृतिक धर्म, भाव और विकार जब तक इसके साथ लगे हैं तभी तक साहित्य और कला, कर्म और चिन्तन है। इसलिए जीव का स्वरूप गौण और उसका धर्म मुख्य है। जीव का धर्म बुद्धि से निश्चित न कर अनुभव से निश्चित करने वाले हमारे प्राचीन साहित्य के विचारकों ने साहित्य और कला की कसौटी जीवन को ही माना था। आधुनिक मनोवैज्ञानिक भी अब यही कर रहे हैं। यहाँ तक कि 'बियांड दी प्लेजर प्रिंसिपल' की भूमिका में फ्रायड ने बृहदारण्यक का उद्धरण दिया है।

वेदान्त का आनन्द साहित्य और कला में रस बन गया है। इन दोनों का मूल हमें ऋग्वेद दशम मंडल के नासदीय सूक्त और बृहदारण्यक और दूसरे उपनिषदों से भी मिल जाता है।* वेदान्त का आनन्द और साहित्य का रस इस देश के जीवनदर्शन में जीव का धर्म माना गया। समग्र सृष्टि के मूल में इसी लिए आनन्द का भाव कहा गया है। वेदान्त के इस आनन्द तत्त्व का खण्डन न्याय सूत्र ने उपभोगवाद के रूप में किया। वेदान्त का आनन्दभाव जीवधर्म से निकला है और न्याय सूत्र शुष्क बुद्धि से। दार्शनिक साहित्य में भावसौन्दर्य का निरूपण अनेक स्थानों में 'रस' शब्द से किया गया है। वैदिक साहित्य में 'रस' आनन्द की परमोच्च स्थिति और जीवमात्र का शुद्ध स्वभाव है। भाव संधान में यही सृष्टि का सत्य है।

---

* कामस्तदग्रे समवर्त्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्।
सतो बन्धुमसति निरविन्दन् हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा॥
नासदीय सूक्त ऋक् १० मं०

यही वह आनन्द है जिसके प्रतिबिम्ब हमारे जीवन के क्षणिक सुख हैं। 'रस' की अनुभूति में व्यक्ति का परम सत्य खिल उठता है। सृष्टि का मूलभूत कारण यही आनन्द है'। विना इसके न कोई प्रगति है न कोई सत्ता। यही व्यापक सत्य है। यह अजेय और अलंध्य है। सृष्टि, लय और गति का आधार भी यही है।

उपनिषद चिन्तन का ब्रह्मनिरूपण इसी 'रस' और आनन्द से उद्भूत है। रस, आनन्द, सुख और काम परस्पर पर्याय वन गये हैं। इसकी अनुभूति उपनिषद में प्रेम और रति की अनुभूति के साथ मिलाई गई है।† आनन्द की चरम स्थिति प्रेमालिंगन के सर्वव्यापी हर्ष में प्रस्तुत की गई है। ब्रह्म और माया, प्रकृति और पुरुष, नर और नारी इस आनन्द के उपादान वन गये हैं। रस या आनन्द की भावना जो वेदमन्त्रों से ले कर उपनिषद् और दर्शन चिन्तन तक अटूट क्रम में चलती आई, इस देश की कला के साहित्य और संगीत के सर्जन का कारण वनी।

सृष्टि का मूलभूत कारण जव रस मान लिया गया फिर जीवन और कला के किसी भी निर्माण के मूल में रस का माना जाना स्वाभाविक था। भारतीय साहित्य के आदि आचार्य भारत ने तो रस-सिद्धान्त को माना ही, उसके वाद के सभी विचारक 'रस' भाव को कला और साहित्य का प्राण मानते गये। यही कारण है कि वाल्मीकि,

---

† तद् यथा प्रियया स्त्रिया सम्परिष्वक्तो न वाह्यं किंचिन वेदनान्तर-मेवायं पुरुषः प्राज्ञेनात्मना सम्परिष्वक्तो न वाह्यं किंचिन वेदनान्तरम्।

वृहदारण्यक।

व्यास, कालिदास और तुलसीदास के काल में इतना अधिक अन्तर होते हुए भी उनके साहित्य में कोई ऐसा अन्तर दृष्टिकोण या शैली का नहीं है। 'रस' और 'आनन्द' एक व्यक्ति का न हो कर समूचे विश्व का है। कालिदास के दुष्यन्त ने जिन आँखों से शकुन्तला को देखा था उन्हीं आँखों से तुलसी के श्रीरामचन्द्र ने जानकी को देखा और इन दोनों नायकों के भावलोक की प्रायः एक सी ही गति हुई। भरत के वाद काव्यपुरुष के अलंकार और आकार पर वल देने वाले भामह, दण्डी और वामन भी इस सिद्धान्त के निराकरण में सफल न हो सके। आनन्दवर्धन और अभिनवगुप्त भरत के रस सिद्धान्त को आधुनिक मनोविज्ञान के तल तक पहुँचाने में सफल हुए। संकेत और प्रतीक से इन आचार्यों ने इस भाव के पोषण का महान् कार्य किया। अभिनव, मम्मट और विश्वनाथ के लक्षणग्रन्थ भरत के रससिद्धान्त, अलंकार और वस्तु के अधिक विवेचनात्मक और प्रौढ़ प्रयत्न हैं। मूल स्रोत तो वेद, उपनिषद् और वेदान्त से आया था—यह स्रोत हमारी कला और साहित्य सम्पत्ति का तो था ही, हमारी जीवन-सम्पत्ति का स्रोत भी यही था, जिसमें चेतन प्रकृति का विकास था, जिसमें वह अपने ही रूप पर रीझ कर सम्मोहित हो उठी थी। सौन्दर्य का यही सम्मोहन 'रस' और 'आनन्द' वना और इसी का आकर्षण अनुराग। मानवीय चेतना, उसकी विधि और व्यवहार के नाना रूप, त्रिगुणात्मिका सृष्टि के विविध कर्म, उसके अव-चेतन की वासना आधुनिक मनोविज्ञान में जो कुछ जाना और समझा जा रहा है वह सव भरत के नाट्यशास्त्र में वीज रूप से पर शुद्ध वैज्ञानिक पद्धति में आ गया है। सौन्दर्य की सृष्टि के

रूप में कला, भावलोक की परम तुष्टि, इसकी गति और लय, युग और देश विशेष के जन-जीवन का समन्वित प्रतीक है। राजनीति और धर्म में यही सामूहिक प्रवाह देख पड़ता है। इनमें भी सम्पूर्ण मानव या सम्पूर्ण समाज का स्पन्दन मिलता है। कलाकृति और अभिव्यक्ति में सम्पूर्ण मुक्ति का भाव रहता है। इस लिए कि किसी राजशक्ति या सम्प्रदाय की उत्तेजना का बंन्धन इसमें नहीं होता। इसकी शक्ति अजेय होती है। इसके घेरे में सम्पूर्ण लोकजीवन, राष्ट्र या देश समा जाता है। इस प्रकार कवि, लोक जीवन का अग्रदूत और एक में अनेक बन कर अपने युग और समाज की ध्वजा का वाहक बन जाता है। संस्कृत साहित्य में सौन्दर्य और अनुराग चित्रण के साथ ही साथ नीति, विज्ञान और तत्त्व चिन्तन के स्थल भी सर्वत्र इसीलिए जिस अनुपात में मिलते हैं…संसार के किसी भी दूसरे साहित्य में नहीं। हमारी पुरानी पद्धति सम्पूर्ण जीवन अथवा समष्टि की थी। सृष्टि के सभी तल और तत्त्व तब गति और लय के एक क्रम में थे शंकर के ताण्डव की तरह। जीवन के खण्ड ले कर चल देने वाले न यहाँ कवि बन सके न चिन्तक।

राजनीति और धर्म में जिस प्रकार किसी जाति का नैतिक और आध्यात्मिक पक्ष कार्य करता है उसी प्रकार कला और साहित्य में उसका भाव पक्ष प्रधान होता है। विज्ञान के क्षेत्र में ऐसे ही बुद्धि तत्त्व की प्रधानता होती है। कला और साहित्य में ये सभी तत्त्व भाव और अनुभाव के रूप में आते हैं। जिस जाति की भावना, विश्वास और जीवनविधि जिस प्रकार की रही है, उसी कोटि के साहित्य और कला का प्रसार उस जाति में हो सका है। सृष्टि के मूल में

आनन्द और रस को मानने वाले इस देश के सामूहिक जीवन और साहित्य में भी आनन्द और रस की विचारधारा वैदिक युग से ले कर अंग्रेज़ों के आने तक बराबर समान रूप से बहती रही। अंग्रेज़ों का आना जैसे हमारी धरती और आकाश को नया कर गया। जीवन और जगत सम्बन्धी हमारे विचार हवा में उड़ गये। भरत मुनि और कालिदास को भूल कर यूरप के लेखकों के अनुकरण पर इस देश का साहित्य बनने लगा। धर्म, समाज नीति और साहित्य जो यहाँ एक ही सिद्धान्त—अनुभूति पर इतने काल से चलते आये थे, अलग भागों में बँट गये। साहित्य कोरी कल्पना की उड़ान बन गया······ धरती से सम्बन्ध तोड़ कर उसकी दौड़ आकाश में होती रही। यूनानी शोकान्तिकाओं और शेक्सपियर के नाटकों का प्रतिबिम्ब हमारे मानसिक क्षितिज पर छा गया।

अपारे काव्य संसारे कविरेकः प्रजापतिः।
यथास्मै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्त्तते॥

आनन्दवर्धन की वाणी भूल कर अरस्तू की कथार्सिस में हम उलझ गये। भारत का रस सिद्धान्त और अरस्तू की कथार्सिस निश्चय ही दो लोकों के विधान हैं। यह अन्तर भास कालिदास के नाटकों को एक ओर और यूनानी शोकान्तिकाओं को दूसरी ओर रख कर देखने से स्पष्ट हो जायेगा। कालिदास के नाटकों में 'रस' या 'आनन्द' की साधना है पर यूनानी शोकान्तिकाओं में हिंसा, छल कपट, हत्या और नियतिचक्र का वह प्रदर्शन है······जिसे देख कर मनुष्य के मन से जीवन का अनुराग और आकर्षण निकल जाता है। भरत के लिए इस दृश्य जगत का निर्माता स्वयं लीलामय है···

जिसकी लीला यह सृष्टि है, सौन्दर्य और भाव दोनों का अगाध समुद्र है वह···स्वयं वह प्रेम और अनुराग का केन्द्र है। लोक जीवन में जो अनुराग और प्रेम है उसका मूल केन्द्र भी वही है। इसी लिए हमारे पुराने साहित्य में शृङ्गार रस की प्रधानता है···प्राणिमात्र का, मनुष्य का भी परम सुख और सन्तोष जिसके भीतर मिलता है और तब तक मिलता रहेगा जब तक कि इस जगत का गुण और स्वभाव नहीं बदल जाता···जब तक मनुष्य की इच्छायें···वासनायें नहीं बदल जातीं। प्रकृति और जीवन का पुनर्निर्माण हमारे यहाँ साहित्य और कला है पर इस निर्माण के सभी अंग उपांग वही हैं जो प्रकृति और जीवन के हैं।

रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और श्रवण, जिनका अनुभव हमें अपनी इन्द्रियों से होता है और उस समय हमारे मन की जो दशा होती है, जैसे व्यापार हमारे होते हैं, उन्हीं का चित्रण काव्य, चित्र, संगीत सब में समान रूप से होना कला की किसी भी पद्धति को जन्म देता है। हमारे आनन्द और सुख इन्द्रिय-जन्य हैं। इसीलिए विचारों में भेद भले हो, अनुभव में भेद कहीं नहीं होता। साहित्य और कला में बुद्धि से नहीं अनुभूति और भाव से काम चलता है। जो यह नहीं जानते वे जीवन के सत्य से छूट कर भ्रम के जगत में निवास करते हैं।

संस्कृत नाटकों और यूनानी शोकान्तिकाओं के मूल में ही इतना मौलिक अन्तर न देख कर जो लोग यह कहते गये कि संस्कृत नाटक पर यूनानी प्रभाव है, उनसे कुछ कहने का अवसर और स्थान यह नहीं है। भरत ने नाटक के लक्ष्य और प्रयोजन के विषय में जो कहा है वे लक्ष्य और प्रयोजन यूनानी नाटकों के नहीं हैं। यवनी और

यवनिका दो शब्दों से यह मान लेना दूर की कौड़ी निकालना है। यवन वणिक् यवन कन्याओं को इस देश में सोने के मूल्य बेंच जाते थे। संस्कृत नाटकों में जिन यवनी प्रतिहारियों की चर्चा है वे यहाँ सौदे की भाँति मोल ली जाती थीं। उस समय के राजभवनों में, राजकुमारों के अंतःपुर में और भद्र नागरिकों के शुद्धान्तों में यवनकन्याओं का पाया जाना प्रतिहारी या दासी के रूप में, इस देश के विभव और तत्कालीन रुचि का परिचायक है, इससे अधिक कुछ नहीं। पर्दे की जगह यवनिका ऐसी वस्तु यूनानी नाटकों में थी ही नहीं। यह शब्द भी अपने शुद्ध रूप में जवनिका है यवनिका नहीं, जिसका अर्थ है त्वरा में उड़ने वाला वस्त्र। नाव के उपर लगे कपड़ों को ही जवनिका कहते थे जिनमें हवा भर कर नाव को गति देती थी। दुःखान्त यूनानी नाटक किस प्रकार संस्कृत के उन नाटकों के प्रेरक बने जिनमें आनन्द की उपासना है रस की तुष्टि है ? आनन्द और रस ये दो शब्द पश्चिम के देशों के लिए मनोविज्ञान के इस युग में भी अपरिचित हैं। जहाँ जीवन का मूल ही आनन्द और रस माना गया था वहाँ जीवन से प्रसूत कला का भी मूल यही आनन्द और रस बना।

भरत के अनुसर नाट्यवेद की रचना स्वयं ब्रह्मा ने की। आज का बुद्धिवादी ब्रह्मा की जगह पर प्रकृति विधान को बैठा सकता है। ब्रह्मा ने लोक जीवन के आनन्द, विनोद, सन्तोष और सुख के लिए इस वेद की रचना की थी। चारों वेदों के अंगों से इस वेद की रचना हुई*।

---

* जग्राह पाठमृग्वेदात् सामभ्यो गीतमेव च।
यजुर्वेदादभिनयान् रसानथर्वणादपि ॥

नाट्य वेद की रचना और इसके लक्ष्य की बहुत सी बातें भरत के नाट्यशास्त्र में आ गई हैं † । इन श्लोकों से भारतीय नाटक के रूप और क्षेत्र खुल जाते हैं। गीत, नृत्य, संवाद और अभिनय सब के समावेश के कारण नाटक साहित्य और कला के सभी गुणों का भण्डार बन गया है। इसीलिए किसी आलोचक ने कहा था "काव्येषु नाटकं रम्यम्" । नाटक का उद्देश्य जो भरत ने दिया है उससे स्पष्ट हो जाता है कि नाटक मनुष्य और उसकी प्रकृति के स्वाभाविक और सत्य रूप उपस्थित करने की कला है—इसमें सत्य की साधना है, तर्क का घटाटोप नहीं।

भरत के इस कथन से यह निश्चित हो जाता है कि लोकवृत्ति का चित्रण, उत्तम, मध्यम और अधम मनुष्यों के व्यापार, क्रियाकलाप

---

† कर्म भावान्वयापेक्षो नाट्यवेदो मया कृतः ।
नैकान्ततोऽत्र भवता देवानाम् चात्र भावनम् ॥

× × ×

निग्रहो दुर्विनीतानां विनीतानां दमक्रिया ।
क्लीवानां धार्ष्ट्यकरणमुत्साहः शूरमानिनाम् ॥

× × ×

अबुधानां विबोधश्च वैदुष्यं विदुषामपि ।
ईश्वराणां विलासश्च स्थैर्यं दुःखार्दितस्य च ॥

× × ×

लोकवृत्तानुकरणं नाट्यमेतन्मया कृतम् ।
उत्तमाधममध्यानां नराणां कर्मसंश्रयम् ॥

का निदर्शन नाटक या साहित्य का कोई भी अंग हो सकता है। लोकवृत्ति प्रकृति की बनाई है। कोई कवि कल्पना से उसका निर्माण नहीं करता। यूनानी शोकान्तिकाएँ स्वाभाविक लोकवृत्ति पर नहीं हैं, वहाँ तो नाटककारों ने उसे कल्पना से गढ़ा है जिसका समर्थन किया अरस्तू के कथार्सिस सिद्धान्त ने। असत्य को सत्य करने की यह विचित्र पद्धति शेक्सपियर के नाटकों तक अपने वेग में चलती रही। इब्सन ने शेक्सपियर के विरुद्ध प्रतिक्रिया की, पर हमारे दुर्भाग्य से द्विजेन्द्रलाल राय ने आँख मूँद कर शेक्सपियर का अनुकरण किया और वह अनुकरण देश की सभी भाषाओं पर छा गया। अब समय आ गया है जब इस देश के साहित्यकार अपने जातीय सिद्धान्तों को समझें और अब से भी अपना सम्बन्ध अपने पूर्वजों से जोड़ें।

भरत नाट्यशास्त्र के अनुसार हित का उपदेश, दुःख, श्रम, आर्ति का नाश, बुद्धि, धर्म और आयु की वृद्धि नाटक के रस, भाव और व्यापार से होगी। संसार में कोई कर्म नहीं, कोई ज्ञान, कोई कला, कोई विद्या, कोई योग नहीं जो इस नाटक में न आ सके। वेद, विद्या, इतिहास, आख्यान, देवता, ऋषि, राजा, परिवार और समूहजन के व्यापार के अनुसरण और अभिनय में यह नाटक चलता रहेगा। जीवन के हर क्षेत्र, हर व्यापार, हर परिस्थिति में नाटक के तत्त्व हैं। सुख, दुख, क्रोध, हर्ष, विनोद, भय आदि की स्थिति में मनुष्य की जो दशा होती है, उसके स्वभाव का जो अंश प्रकट होता है नाटक में वही अभिनय का आधार है। इन सिद्धान्तों पर यह निस्संकोच कहा जाता जा सकता है कि पुराने संस्कृत नाटकों में मनुष्य का स्वाभाविक और यथार्थ चित्रण है। यूरप के नाटकों में जिस यथार्थ

और मनोवैज्ञानिक चित्रण का काल इब्सन से आरम्भ होता है, यूनानी और शेक्सपियर की पद्धति के अतिरंजित और अस्वाभाविक नाटकों के विरुद्ध जब प्रतिक्रिया की लहर चलती है, मनोविज्ञान और सामाजिक समस्याओं का आधार जब लिया जाता है और इस युग के सभी नाटककार 'शा' आदि जिसकी उपज हैं, वह यथार्थवाद सदैव से संस्कृत नाटकों में एक क्रम और विस्तार में दिखाई पड़ता है। मनुष्यचरित्र का मनोवैज्ञानिक चित्रण, परिस्थिति विशेष में उसके व्यापार, संवाद, चेष्टा, मुद्रा आदि का स्वाभाविक चित्रण ही यथातथ्यवाद कहा जायेगा। इस दृष्टिकोण में संस्कृत नाटक बराबर खरे उतरेंगे। वेदों के अंगों से नाट्यवेद की रचना स्वयं ब्रह्मा ने की थी। इसमें शिव से ताण्डव और पार्वती से लास्य मिला था। प्रभाव के लिए विष्णु से चार वृत्तियाँ मिलीं और तब भारतीय नाटक का कलेवर सुन्दर और पुष्ट हुआ। नाट्यसूत्र का सम्बन्ध अभिनेताओं के लिए अभिनय सम्बन्धी शिक्षा से है। नाटक में स्त्री, बालक, वृद्ध, सभी जन और सभी वर्गों को समान अधिकार मिला था। वेद पाठ शूद्र के लिए वर्जित था किन्तु नाटक के अवसर पर प्रेक्षागृह में शूद्र के लिए भी स्थान निश्चित था।

नाटक के प्रधान तत्त्व गीत और संवाद वेदों में मिल जाते हैं। ये संवाद भाव और अभिनय की दृष्टि से ऊँचे तल के हैं। यम यमी, पुरुरवा और उर्वशी के संवाद आधुनिक रङ्गमञ्च के उन दर्शकों को भी मोह लेंगे जिनका विज्ञान और बुद्धिवाद पश्चिमी ढाँचे में ढल चुका है। रामायण में नट, नर्तक और मिश्रित भाषा (व्यामिश्रक) के नाटक की चर्चा है। हरिवंश में उन नटों का उल्लेख है, जिन्होंने

रामायण के आधार पर नाटक का अभिनय किया था। महाभाष्य में रङ्गमञ्च पर नाटक अभिनय का वर्णन है जिसमें 'कंसवध' और 'बलि बन्ध' नाटक खेले गये हैं। 'मालविकाग्निमित्र' में प्रेक्षागृह और 'अभिज्ञान-शाकुन्तल' में सङ्गीतशाला शब्दों का प्रयोग है। भावप्रकाशन में दिवाकर के सञ्चालन में, किसी नाटक मण्डली ने तीस प्रकार के नाटकों का अभिनय तीन प्रकार के विभिन्न नाटक मण्डपों में किया था।

इन नाट्यगृहों के आकार प्रकार प्राचीन भारतीय संस्कृति में कला और बुद्धि का मनोरम मेल दिखाते हैं। इनका निर्माण मन्दिर के साथ या राजभवनों के साथ हुआ करता था। इसके प्रमाण भी हैं कि ऐसी रङ्गशालायें स्वतन्त्र रूप से सर्वसाधारण के लिए नगरों में, देहातों में, और पहाड़ी घाटियों में भी बनी थीं। इनकी बनावट कहीं वृत्त रूप में, कहीं अर्धवृत्त, कहीं चतुरस्त्र और कहीं त्र्यस्त्र होती थी। भरत नाट्यशास्त्र के भाष्य में अभिनव गुप्त ने जो इसके अठारह प्रकार के प्रचलित भेद दिये हैं इसी से सिद्ध है कि नाटक का स्थान इस देश के लोकजीवन में उस समय कितना व्यापक था। रङ्गमञ्च के दो भाग होते थे—प्रेक्षागृह और रङ्गमण्डप। रङ्गमण्डप के ठीक सामने प्रेक्षागृह का विधान था। यह दर्शकों के बैठने की जगह थी, जो मण्डप और आकार के भेद के अनुसार बना करती थी। मन्दिर के साथ, राजभवन के साथ या स्वतन्त्र रूप में सब किसी के लिए जो प्रेक्षागृह बनते थे उनकी बनावट में भेद हुआ करता था और दर्शकों के बैठने के स्थान में भी। मन्दिर के नाट्यमण्डप में देवदम्पति के स्थान एक ओर, चक्रवर्ती का स्थान उसकी दूसरी ओर, राजकुमारों, आचार्यों, विद्वानों

और साधारण जनता के लिए भी स्थान निश्चित रहते थे। राजभवनों के साथ जो मण्डप बनते थे उनमें रङ्गशीर्ष (मंच) के ठीक सामने मध्य में, राजसभा की वारांगनाएँ बैठती थीं, उनके दायें विशिष्ट राजसदस्य और बायें कवि, गायक, सूत, मागध और वन्दीजन बैठते थे। वारांगनाओं के ठीक पीछे मध्य में राजा का आसन रहता था जिसके दायें राजमहिषी अपनी सखियों के साथ बैठती थीं और बायें अन्तःपुर की दूसरी स्त्रियाँ बैठा करती थीं।

नाट्यमण्डप के तीन भाग होते थे। रङ्गशीर्ष, रङ्गपीठ, और नेपथ्यगृह। रंगशीर्ष मण्डप का अगला भाग, रङ्गपीठ अभिनय का स्थान और नेपथ्यगृह को आज का ग्रीन रूम कहा जा सकेगा। इस नेपथ्य गृह में नट नटी विश्राम करते थे, वेश, वस्त्र अलंकार और दूसरी सजावट करते थे, साथ ही साथ अपने प्रशंसकों की प्रशंसा और उनसे उपहार ग्रहण करते थे। रङ्गशीर्ष और रङ्गपीठ में वेदिका के आगे जवनिका और बीच में ऐसे दूसरे झीने पटवस्त्र रहते थे जिन पर स्वाभाविक स्थिति, व्यापार आदि के चित्र बने रहते थे। रङ्गपीठ में झीने पटवस्त्रों की आड़ में लास्य की कोटि का अर्धनग्न या विवस्त्र नृत्य भी सम्भव हो सकता था। झीने पर्दे और प्रकाश की उचित योजना में ऐसे नृत्यों की अश्लीलता नहीं प्रकट होती थी। प्रेक्षागृह में सभी श्रेणी के दर्शकों के स्थान कलात्मक रूप में यथाक्रम निश्चित थे। इनकी सुन्दरता अलंकृत द्वारों, झरोखों, भित्तियों और छत से ौर भी दमक उठती थी। प्रेक्षागृह तो कहीं-कहीं खुले आकाश के ीचे भी मिले हैं पर रङ्गमण्डप का विधान सब कहीं प्रायः एक ही । होता था। वायु, प्रकाश, रक्षा, रचना और दृढ़ता का वैज्ञानिक

विचार नाट्यगृहों के निर्माण में बराबर रहता था, चाहे ये गाँवों में बनें, नगरों में, तीर्थों में या राजधानियों में। दर्शकों की रुचि और स्थान विशेष के साधन के अनुसार बड़े या छोटे आकार के नाट्यगृह बनते थे। यज्ञों और दूसरे धार्मिक अवसरों पर नाटक देखना धर्म माना गया था।

जिस विषय का, जिस वस्तु या परिस्थिति का अभिनय नाटक में करना हो उसकी स्वाभाविकता ही भारतीय नाटक का चरम लक्ष्य रही है। नाट्यशास्त्र का विस्तृत विवरण इसी ओर संकेत करता है। सरगुजा की रामगढ़ पहाड़ी की गुफा, उदयगिरि की रानी और गणेश गुफा, कालिदास के काव्यों में 'दरीगृहा' और 'शिलावेश्म' उस युग की नाट्यशालायें हैं। भारतीय संगीत, काव्य और नाटक का सम्बन्ध परस्पर गहरा रहा है। इन सब का मूल स्रोत वैदिक और उससे भी पहले के काल में मोहेंजोदड़ो और हड़प्पा की भाव मूर्तियों में बहुत गहरे जा पहुँचा है। अवर्षण और महामारी की भयानक परिस्थिति में भी जहाँ गीत अज्ञात काल से गाया जाता है वहाँ नाटक या कोई भी कला किसी से ऋण ले कर नहीं, अपने स्वाभाविक क्रम में विकसित हुई थी।

रुचि और कालभेद को ध्यान में रख कर जहाँ तक बन पड़ा है इस नाटक का सम्बन्ध मैंने संस्कृत नाटक के पुराने सिद्धान्तों के साथ जोड़ना चाहा है। ऊपरी आकार इसका आधुनिक है पर भावलोक में भरत के सिद्धान्तों के अनुसरण भर का प्रयत्न मेरा रहा है। इस कार्य में मुझे कितनी सफलता मिली है इसकी चिन्ता भी मुझे इसलिए नहीं होगी कि कर्म मुझे करना था फल की आशा से कुछ बनने को नहीं है।

विदेशी कुषाणों से देश को स्वतन्त्र करने वाली; भारशिव नाग वीरसेन की कथा इस नाटक का आधार बनी है। पिछले महायुद्ध के बाद से छापामार दस्तों की बातें जो समाचारपत्रों में मिलती रही हैं उनका अस्तित्व इस देश में पुराना है। सिकन्दर के बाद यूनानी शक्तियों को सिन्धु के किनारे देश के उन वीर सैनिकों का सामना करना पड़ा था जो घरबार छोड़ कर विदेशियों के विरुद्ध बीहड़ वनों और पर्वतों में रह कर कार्य करते रहे। जिन भारशिव नागों ने कुषाणों के हाथ से तलवार छीनी थी आरम्भ में वे भी सम्भवतः विन्ध्य-परम्परा से निकल कर कुषाण राज्य के पार्श्व में धावे करते थे और गंगा की धारा में प्रवेश कर राज्य के धन और जन का अपहरण करते थे। हूणों का अन्त भी इस देश में गुप्तों की साम्राज्यसेना से नहीं, जननायक यशोधर्मा के पौरुष से हुआ था। मुसलमानी काल में राजपूत और शंकराचार्य के वैरागी सैनिक इसी परम्परा के प्रतिनिधि थे। शकारि विक्रमादित्य को भी मालवगण की यही सहायता मिली थी। अंग्रेज़ों के विरुद्ध जिन वीरों ने घरबार छोड़ कर विन्ध्य और दक्षिण के पर्वतों में धूनी रमाई थी ऐसे सेनापति तांत्या टोपे, पिण्डारे और दूसरे दल देशभक्त और स्वेच्छा से कष्ट झेलने वाले वीर पुरुष थे। सच तो यह है कि इस रणकला का पाठ आर्थर वेलेज़ली ने यशवंतराव होलकर से सीखा और स्पेन में नेपोलियन के विरुद्ध इसका पहला प्रयोग किया*। राष्ट्रीयता का अभिमान देश की राज-शक्ति जब न बचा सकी, बराबर उसकी रक्षा हमारे इतिहास के

* पृथ्वीसिंह महता, 'हमारा राजस्थान', पृ० १८५।

आदिकाल से इसी रूप में देश के वीरों से होती रही।

ईसा की तीसरी और चौथी शती का इस देश का इतिहास भार-शिव नागों के खड्ग से लिखा गया। काशी का दशाश्वमेध घाट इनके अश्वमेध यज्ञ का आज भी प्रमाण है। काशी के इस घाट पर भाग्य से जब कभी मुझे जाने का अवसर मिला है विजयी वीरसेन का पराक्रम मेरी कल्पना को अनेक रंगों में रँगता रहा है। इस नाटक की प्रेरणा वीरसेन का धुँधला चरित्र है, कल्पना के बल से जो यह कुछ निखर गया हो तो मैं अपना प्रयत्न सफल समझूँगा।

अनन्त चतुर्दशी
संवत् २००७

—लक्ष्मीनारायण मिश्र

पात्रसूची

पुरुष पात्र

वीरसेन	नाग राजकुमार, बाद में नागराज
भैरवी सिद्ध	वीरसेन के गुरु
वज्रसेन	नाग सेनापति
अघोर भट्ट	नाग सरदार
रुद्रसेन	नाग सरदार
महावीर	नाग सैनिक
जयन्त	नाग सैनिक
कनिष्क	कुषाण राजकुमार
अंगारक	कुषाण सम्राट् का काशी का छत्रप
मद्धन	कुषाण सैनिक
चट्टन	कुषाण सैनिक
टंकण	कुषाण सैनिक

स्त्री पात्र

कौमुदी	कुषाण राजपुत्री
नन्दिनी	यवन-कन्या, कौमुदी की परिचारिका

पहला अंक

[देवपुत्र वासुदेव का राजभवन । मथुरा का यह राजभवन यमुना के दाहिने तट पर बना है । भवन के भीतर अन्तःपुर के पश्चिम प्रमदवन । प्रमदवन के बीच में कमलों से भरी पुष्करिणी । विभिन्न प्रकार के सभी ऋतुओं में फूलने वाले पेड़, लतागुल्म । पालतू हरिण, पक्षी, मयूर इधर उधर प्रमदवन में घूम रहे हैं । सभी ऋतुओं के विश्रामगृह पेड़ों और लताओं की ओट में देख पड़ते हैं । प्रियंगु कुंज में जहाँ से दुर्गद्वार का कुछ भाग दिखाई पड़ रहा है, देवपुत्र वासुदेव की पुत्री कौमुदी फूलों और रत्नों की माला पहने भाव-विभोर हो कर वीणा बजा रही है । वीणा के स्वर आरोह की गति में चढ़ते जा रहे हैं । यवनी नन्दिनी पारिजात की माला लिये प्रवेश करती है । राजकुमारी कौमुदी का ध्यान नहीं उचटता और वह उसी गति में आँखें आधी मूँदे वीणा बजाती चली जा रही है । स्वरों की मोहिनी में नन्दिनी की आकृति पर विस्मय और आनन्द के भाव खेलने लगते हैं ।

घुटनों से नीचे लटकता लम्बा चोगा, ऊँचा उष्णीष और हाथ में खड्ग लिये दो कृपाण सैनिकों का प्रवेश । दूर से ही कौमुदी को नमस्कार कर दोनों दुर्गद्वार की ओर बढ़ते हैं । थोड़ी दूर जा कर खड़े हो जाते हैं और आँखें चुरा कर दोनों को देख लेते हैं ।]

पहला—यह यवनी बड़ी सुन्दरी है मद्धन ।

मद्धन—हाँ···चट्टन···क्या राय है ? आँख का काम जीभ से नहीं लेते । (अपने हृदय पर हाथ रखता है ।)

चट्टन—धड़कन गिन रहे हो ?

मद्धन—इतना भाग्य मेरा ! कह देखो छत्रप अंगारक से···इतना मानते हैं तुम्हें···यह इतना भी न करा देंगे।

चट्टन—जैसे पका आम है तोड़ लेंगे; क्यों ? और फिर जो अपने ही रोगी है दूसरे की औषध क्या करेगा ?

मद्धन—लगते हो आकाश की वातें करने। छत्रप अंगारक को क्या रोग है ?

चट्टन—अरे वही। इस देश के लोग किस देवता को वली समझते हैं···जिसका धनुष वाण फूल का होता है पर इसी अस्त्र से जो और सभी देवताओं को हरा देता है। इन्द्र का वज्र, विष्णु का चक्र···ब्रह्मा की उजली लम्बी दाढ़ी भी जिसके फूलों के वाण से हार जाती है।

मद्धन—महेश्वर की समाधि भी जिसके वाणों से टूट ही गई··· यहाँ लोग जिसे प्रेम का देवता कहते हैं।

चट्टन—हाँ···हाँ···आजकल उसके वाण अकेले एक हृदय पर लग रहे हैं।

मद्धन—अच्छा···तब कह दो नाम।

चट्टन—(ओठ पर उँगली रख कर) अरे चुप···यह वात भी कहने सुनने की है।

मद्धन—नहीं···देखो छिपाओ मत···

चट्टन—उस देवता के तीर भी छिप कर चलते हैं।

मद्धन—मैं पूछता हूँ कौन है वह भाग्यवान···और किसके तलवों में वह अपने मन का रंग लगा रहा है।

चट्टन—यही तो कहने की वात नहीं है।

मद्धन—फिर लगे तुम वहकने।

चट्टन—अरे भाई, छिप कर चलाये गये तीर चोट तो करते हैं पर पहले से कौन जानता है कि चोट लगेगी। और फिर फूल की चोट ही कितनी? इसी धोखे में तो लोग मारे जाते हैं। प्रेम के इस देवता को निमंत्रण देने से अच्छा है यमराज को निमन्त्रण देना। कैसे विचित्र लोग हैं ये···इनका कोई देवता मूषकराज पर चढ़ता है थुलथुल तोंद और लम्वी सूँड़ ले कर···कोई मोर पर चढ़ता है छः मुख ले कर तो किसी का वाहन मृग है, किसी का उलूक और नहीं तो किसी का भैंसा···

मद्धन—वात न वनाओ; समझ रहे हो?

चट्टन—धमकी दे रहे हो तुम मुझे···(हाथ की तलवार हिला कर)

मद्धन—खड्ग दिखा रहे हो तुम मुझे···चलो अभी कहता हूँ। देवपुत्र का वरावर आदेश आ रहा है सभी सैनिक परस्पर मेल से रहें। काशी के पूर्व का सारा राज्य देवपुत्र खो चुके केवल सैनिकों के परस्पर भेद के कारण। मैं अभी कुमार कनिष्क से कहूँगा और अपना लिखित निवेदन पुरुषपुर भेजूँगा।

चट्टन—अच्छा आओ वताऊँ; कान में कहूँगा

मद्धन—(उसकी ओर कान फेर कर) हाँ···कहो।

चट्टन—(कान पर मुख रख कर चुटकी से उसका कान पकड़ लेता है) मद्धन कहना कभी कि किसी ने कभी तुम्हारा कान नहीं पकड़ा···(झुक कर कान में कुछ कहता है।)

मद्धन—क्या···कुमार अंगारक···?

चट्टन—धीरे से···कोई सुन लेगा।

मद्धन—यहाँ कौन है सुनने वाला? सच कह रहे हो?

चट्टन—हाँ जी···देवपुत्री कौमुदी पर प्राण दे रहे हैं वह···नहीं देखते जैसे भौंरा फूल पर मँडराता रहता है···वही दशा है उनकी। सारा दिन किसी न किसी बहाने देखते ही रहते हैं। रात को भी चाँदनी में सौध शिखर से इसी भवन की ओर ताकते रहते हैं कदाचित् कहीं परछाईं मिल जाय।

मद्धन—पर इसमें सन्तोष क्या मिलता होगा!

चट्टन—प्रेमी उस वायु का सेवन करते हैं जो प्रिया के ऊपर से हो कर आती है। इसमें तो आँखों का रस है।

मद्धन—इसीलिए पिछले तीन महीनों से बिना काम के यहाँ डटे पड़े हैं और उधर काशी जो इनकी राजधानी है वहाँ से दस-पाँच कोस की भूमि भी व्यापार के लिए सुरक्षित नहीं रह गई है। कान्तिपुरी के नाग गंगा में अपने हाथी डाल कर अब दिन में ही सार्थवाहों की पण्य सामग्री रत्न सुवर्ण सभी लूट रहे हैं। पूर्व समुद्र का सारा धन नागों के भण्डार में चला जा रहा है···इधर मथुरा सूखती जा रही है।

चट्टन—पर किस लाभ से अंगारक यहाँ पड़े हैं जब इनके मंडल की यह दशा है यह तो तुम जानते नहीं?

मद्धन—कोई रहस्य है इसमें?

चट्टन—देवपुत्र वासुदेव को···अपने पूर्व मंडल की रक्षा के लिए अपनी पुत्री अंगारक को देनी पड़ेगी।

मद्धन—पर किस तरह···? (विस्मय में देखना है)

चट्टन—अंगारक ने अपना निजी दूत पुरुषपुर भेज दिया है...इसी प्रस्ताव के साथ...कि जो वे उसकी बात मान लें तो वह अपने प्राण पर खेल कर कान्तिपुरी के नाग सेनापति का दमन करेगा।

मद्धन—यह मान लेंगे वे ? क्या समझ रहे हो तुम ?

चट्टन—पश्चिम में प्रबल दस्यु समुद्र की लहरों की भाँति उनसे टकरा रहे हैं...एक के बाद दूसरी लहर उनके आक्रमण की बढ़ी आ रही है। इस समय वे आर्त्त हो उठे हैं...कौन जाने मान लें।

मद्धन—तब राजकुमारी नहीं मानेंगी।

चट्टन—क्या कहते हो...

मद्धन—हाँ...हाँ...देख लेना। परसों छत्रप ने मुझे भेजा था राजपुत्री के पास...

चट्टन—(विस्मय में) ऐं ! किस लिए ?

मद्धन—मुझे भेजा था उन्होंने...

चट्टन—हाँ कहो।

मद्धन—अपनी बेर कैसे उत्सुक हो रहे हो...नहीं तो जब मैं पूछता था तब...

चट्टन—मेरे सिर की शपथ...कह दो अब...हाँ...देखो...

मद्धन—अपने हाथ की गूँथी माला दे कर मुझे भेजा राजपुत्री के प्रसाद के लिए।

चट्टन—तब तुम्हारे नक्षत्र ऊँचे हैं। तुम राजपुत्री तक हो आये हो। क्या कहा उन्होंने ?

मद्धन—पूछा माला किसकी गूँथी थी।

चट्टन—तव……

मद्धन—कह दिया महाक्षत्रप के अपने हाथ की।

चट्टन—फिर……

मद्धन—फिर पूछ रहे हो?

चट्टन—हाँ……

मद्धन—(हँस कर) जो वे बोलने लगीं जैसे बादल में बिजली चमकी हो। उनकी बोली कभी सुनी हैं तुमने?

चट्टन—नहीं भाई……

मद्धन—समझ लो मुँह से फूल झड़ते हैं…कानों में वीणा बजने लगती है। मधु और मदिरा में वह मिठास कहाँ जो उनकी बोली में है। कोकिल सुन ले तो बोलना भूल जाय। भौंरे सुन लें तो गुंजार छोड़ दें। चाँदनी रात में यमुना की लहरें जैसे बोलती हैं। (आँख मूँद लेता है)

चट्टन—हाँ…हाँ…यह क्या……

मद्धन—ठहरो, मेरे कान उस अमृत का रस अब भी ले रहे हैं। (आँख खोल कर) हाँ तो सुनोगे क्या कहा उन्होंने?

चट्टन—कहते भी तो नहीं तुम कविता करते हो।

मद्धन—क्या होती है यह कविता……

चट्टन—कविता में प्रेमी का प्राण और प्रेमिका का आँसू होता है। माया का जाल सारे जगत पर तन जाता है और फिर जो कुछ दिखाई पड़ता है सब वसन्त, कोकिल, माधवी, माधुरी और क्या-क्या कितना कहूँगा। मैं कब का पण्डित हूँ कि सब जानता हूँ।

मद्धन—तुम तो इतना जानते भी हो…

चट्टन—इसीलिए तो मैं कवि नहीं हूँ···कुछ गुनगुनाता भी नहीं कभी। कुछ जान लेने का अर्थ होता है ओठों से हँसी और कण्ठ से गीत के उड़ जाने का। न जानना ही अच्छा है। खुल कर हँसने और गाने का अवसर तो मिलता है। जाने दो इन बातों को···राजपुत्री ने क्या कहा?

मद्धन—जब कहने लगता हूँ ओठों के भीतर वे पतले दाँत कमल में सोई बिजली से चमक उठते हैं। कहो तो आँख बन्द कर कहूँ।

चट्टन—(उसकी आँखों पर हाथ रख कर) हाँ लो मूँद दिया।

मद्धन—देवपुत्री ने कहा···कुमार अंगारक से कह दो···माला गूँथने की कला में अधिक समय न लगा कर खड्ग और धनुष की कला में समय लगाया करें। माला गूँथने वाली उँगलियाँ धनुष की डोरी से डरती हैं।

चट्टन—अरे! यह कहा?

मद्धन—हाँ···और जिस प्रकार वे मुसकरा रही थीं···

चट्टन—किस प्रकार···

मद्धन—भद्र! उस मुसकराहट में विष था···घृणा थी। प्रसाद की बात पर कहा···मुझसे जब कुछ कहना हो वे सभा भवन में कहें जहाँ भाई कनिष्क रहें दूसरे कुषाण क्षत्रप और श्रेष्ठी रहें। फिर भी मैं बड़े पुरस्कार के लोभ में···

चट्टन—पुरस्कार भी तुम्हारा तै हो चुका था?

मद्धन—तब क्या···खाली हाथ मुँह में कहाँ जाता है। पर पुरस्कार की वस्तु सुन कर तुम कहीं मूर्छित न हो जाओ।

चट्टन—तब क्या कुमार अंगारक ने तुम्हें पुरस्कार में मेरा हृदय

दे देने का वचन दिया था ?

मद्धन—समझ तो गये मित्र ! क्यों नहीं ? तुम उड़ती चिड़ियों को हल्दी लगाने वाले हो। तुम्हारा हृदय देने का वचन उन्होंने दिया था।

चट्टन—क्यों रे मेरा वध करा कर मेरा हृदय निकाल लेगा और फिर क्या करेगा उसे ले कर ? और मैं मथुरा के छत्रप का सैनिक हूँ। अंगारक मेरी ओर देख भी नहीं सकेंगे। उनके अधिकार में रहता तो बात दूसरी थी।

मद्धन—मूर्ख ! तेरी देह के भीतर का नहीं बाहर का हृदय...

चट्टन—पहेली न बुझाओ...खुल कर कहो।

मद्धन—(यवनी नन्दिनी की ओर हाथ उठा कर) वह......वह यवनी...कुमार अंगारक को जो देवपुत्री अंगीकार करें तब फिर नन्दिनी मुझे मिलेगी।

चट्टन—नन्दिनी की ओर जो आँखें देखेंगी...निकाल ली जायेंगी।

मद्धन—यह तब पता चलेगा जब देवपुत्री पसीजें...पर वह तो वज्र से भी कठोर हैं। कितनी बातें बनाईं...अंगारक काशी और विन्ध्य के योगियों के चमत्कार बतायेंगे देवपुत्री को...पर वह एक बार का ना कह देना लाख बार के बराबर हो गया।

चट्टन—(प्रसन्न हो कर) तुमने मेरे ऊपर पहाड़ गिरा दिया था। (कौमुदी और नन्दिनी की ओर देख कर) हाथी दाँत की दो पुतलियाँ ...एक बैठी दूसरी खड़ी।

मद्धन—इतनी देर हाथ उधर किये रहोगे और इस तरह देखोगे एकटक...और कहीं राजकुमारी देख लें तब...

चट्टन—तब कह दूँगा नन्दिनी ने मुझे बुलाया था···ऐसे कहूँगा, कि देवपुत्री को विश्वास हो जाय और वह समझें कि नन्दिनी मुझसे बराबर मिलती होगी बिना उनकी आज्ञा के।

मद्धन—हूँ···जिससे तुम्हारे साथ वह भी निकाली जाय और तब तुम उसे···

चट्टन—अपना हित जैसे सधे। जो नहीं करते ऐसा···मूर्ख हैं। जानते हो तुम उस नये गुल्मपाल वीरसेन को?

मद्धन—जिसके ललाट पर दूध से श्वेत भस्म का त्रिपुण्ड लगा रहता है?

चट्टन—हाँ···वही दक्षिण का वीरसेन।

मद्धन—वही···देवपुत्री उसी पर इन दिनों अधिक विश्वास करने लगी हैं। कुमार अंगारक को केवल सभाभवन में अपने साथ बोलने का अवसर वे देंगी पर इस अज्ञात वीरसेन के लिए उनका द्वार सभी समय खुला है···सवेरे, दोपहर, संध्या···आधीरात को भी···रात ही की बात है···रात ढल रही थी···उस समय वह सिंहद्वार से घुसा। मैंने जब रोका, देवपुत्री की मुद्रा दिखा कर वह मुसकरा उठा। जैसे कोई भारी युद्ध जीत लिया हो।

चट्टन—और उस समय तुमने उसे जाने दिया?

मद्धन—देवीपुत्री की मुद्रा के सामने सिवा सिर झुकाने के दूसरा चारा क्या था!

चट्टन—दण्डनायक को बताई यह बात या नहीं?

मद्धन—उसी समय···जब तुम आये सिंहद्वार पर···मैं दण्डनायक से कह आया।

चट्टन—क्या कहा उन्होंने···

मद्धन—सवेरे कुमार कनिष्क से कहेंगे।

चट्टन—कितनी देर रहा वह वहाँ···

मद्धन—आधी घड़ी···

चट्टन—यह कोई शत्रुचर है तब...जिसने अपना अधिकार अन्तःपुर में भी जमा लिया है। जब से यह यहाँ आया है···हमारी सेना में नायक बना है तभी से काशी के निकट गंगा का मार्ग रुक गया है। पराय सामग्री तभी से पोतों पर से उतारी जा रही है दिन दहाड़े और कुमार अंगारक यहाँ प्रेम के सपने देख रहे हैं।

मद्धन—(सिंहद्वार की ओर हाथ उठा कर) अरे! वह देखो कुमार अंगारक वहाँ खड़े हैं।

चट्टन—हाँ···टंकरा और करील से कुछ कह रहे हैं।

मद्धन—कोई गुप्त बात हो रही है। सभी सशंक हैं···सब की आँखों में सन्देह है।

चट्टन—टंकरा और करील हमारी सेना में आने के पहले निषध की तलेटी में दस्यु नायक रह चुके हैं। कुषाण राजनियम के अनुसार सेना में कार्य करना जब इन्होंने स्वीकार कर लिया तो वे अपराध से मुक्त कर दिये गये। अकेला टंकरा तीन सौ मनुष्यों का वध वहाँ कर चुका था···निरपराध पथिकों का···केवल धन लूटने की लिप्सा में।

चट्टन—करील भी उसके दायें नहीं तो बायें तो चल ही सकेगा। कोई भारी काम कुमार अंगारक इन दोनों से आज लेंगे। वह दोनों चले गये और अंगारक इधर ही आ रहे हैं। चलो हम लोग यहाँ से हट चलें। (दोनों दाईं ओर से निकल जाते हैं। अंगारक वहीं आ

कर कौमुदी की ओर एकटक देखने लगता है।)

अंगारक—(उसी तरह देखते हुए) मुझे दिन में भी प्रसाद नहीं देतीं···और वह दास वीरसेन रात को भी देवपुत्री का कृपापात्र है। राह का यह काँटा आज निकल जाय तब फिर देखूँ मेरा अपमान कैसे होता है? वासुदेव को मेरा प्रस्ताव स्वीकार करना पड़ेगा। (उत्साह में सिर हिला कर प्रस्थान)

कौमुदी—(वीणा को जाँघ पर लिटा कर) तुमसे कह दिया था जब मैं वीणा के अभ्यास में रहूँ, तुम मेरे सामने आ कर न खड़ी हो···नहीं कहा था?

नन्दिनी—जी···

कौमुदी—तब क्यों सिर पर आ चढ़ी? (ऊँची साँस खींच कर) ध्यान में कितनी बाधा पड़ रही थी। कई बार मन में आया वीणा फेंक दूँ तेरे सिर पर···

नन्दिनी—सभा भवन में उतने लोगों के बीच में बजा लेती हैं आप···

कौमुदी—लगी विवाद करने। अकेले एकान्त का अभ्यास··· सरस्वती के सामने बजाना है···जिसकी साक्षी देवी सरस्वती होती हैं और सुनने वाले देवगण। कला की जो साधना अकेले एकान्त में की जाती है उसके आनन्द का रस दैवी होता है···सभा में बजाना मनुष्यों के बीच मानवी सीमा के भीतर घिरा रहना है। उसमें मनुष्य की सीमा के आगे कला की भी गति नहीं है।

नन्दिनी—(हाथ की माला हिला कर) पारिजात कुंज में लगी रही इसे गूँथने में···जब बन गई सोचा अब यह देवपुत्री के कण्ठ

में···(आँखें भर आती हैं)

कौमुदी—लो लगी पानी बहाने आँखों से···अच्छा ले आ···न री···डाल दे जूड़े में।

नन्दिनी—हूँ···(निराश सी देखती है)

कौमुदी—क्या बात है···जूड़े में क्यों नहीं लगा देती ?

नन्दिनी—जूड़े के लिए दूसरी गूँथ दूँगी।

कौमुदी—और यह···

नन्दिनी—यह तो कण्ठ के लिए है···वक्ष पर फैल कर नाभि पर डोलेगी। इतनी लम्बी जूड़े में टिकेगी भी तो नहीं ?

कौमुदी—पर कण्ठ में पहनूँ तो वीणा के दण्ड से कुचल उठेगी। पारिजात के फूल दबाव नहीं सहते पगली !

नन्दिनी—तब कहें कि···

कौमुदी—क्या कहूँ कि···क्यों इधर देख···

नन्दिनी—(गरदन दूसरी ओर फेर कर) जो भाग्य वीणा के इस कठोर दण्ड का है वह···

कौमुदी—फिर रुक गई...पूरी बात क्यों नहीं कहती रे ! यमुना नहाने गई थी न ?

नन्दिनी—हाँ···और वहीं किनारे के पारिजात कुंज में बैठ गई।

कौमुदी—कोई प्रिय मिल गया था···क्यों ?

नन्दिनी—(सहम कर) सब जानते हैं...बिना देवपुत्री की आज्ञा के कोई मेरा मित्र बनने भी नहीं आयेगा।

कौमुदी—सच कह रही हो नन्दिनी ! प्रेम तुम जिससे चाहो कर लो···मुझे बता भर देना···भला (हँसने लगती है)

नन्दिनी—अब तो वह बात उड़ गई…

कौमुदी—अरे हाँ, वीणा के दण्ड का क्या भाग्य है ?

नन्दिनी—जो भाग्य वीणा के कठोर दण्ड का है वह इस पारिजात की माला का नहीं।

कौमुदी—(हँस कर) अच्छा तो कह कि आज सवेरे-सवेरे अधिक पी गई। मन चंग पर चढ़ा है।

नन्दिनी—जो फल वीणा का दण्ड पा लेता है वह पारिजात की माला न पायेगी। ठीक है सब का भाग्य बराबर नहीं होता और सब की रुचि भी एक नहीं है। नहीं तो कहाँ यह सुकुमार माला कहाँ वह कठोर दण्ड……

कौमुदी—(वीणा दण्ड की ओर देख कर) चुप न रहेगी…फिर वही हँसी की…

नन्दिनी—किसी से पूछ देखें देवपुत्री…

कौमुदी—क्या पूछ देखें…

नन्दिनी—कहाँ सुकुमार कदम्ब के फूल…और कहाँ यह कड़ी वीणा (झुक कर वीणा दण्ड की ओर संकेत कर) देख लें…यह चिह्न पड़ गया है…इस कोर का…माला यहाँ रक्खा तो करती।

कौमुदी—(धीमे स्वर से) कोमल को कठोर की चाह होती है यवनकन्या ! और कठोर को कोमल की। प्रकृति में जिधर देखो यही बात मिलेगी। (नन्दिनी सब ओर सिर घुमा कर देखने लगती है, जैसे कोई विस्मय की वस्तु देखना चाहती हो। कौमुदी उसे देख कर मुसकराती रहती है।)

नन्दिनी—कहीं यह बात नहीं है।

कौमुदी—कहीं नहीं है ? रसाल के उस पेड़ से माधवी लिपटी है है। माधवी कोमल है और रसाल कठोर···दोनों को एक दूसरे की चाह इसी लिए है।

नन्दिनी—अच्छा तब इसी लिए कुमार अंगारक···

कौमुदी—(कृत्रिम क्रोध से आँख तरेर कर) क्या कहा···?

नन्दिनी—तब इसी लिए पुरुष स्त्री की ओर आकर्षित होता है और स्त्री पुरुष की ओर···

कौमुदी—(पहले सी कठोर मुद्रा में) कुमार अंगारक क्या ?

नन्दिनी—आप तो बिगड़ रही हैं।

कौमुदी—किसका नाम ले रही है मेरे सामने, क्यों ?

नन्दिनी—यमुना किनारे मैं जब नहाने गई थी···

कौमुदी—हाँ क्या हुआ ?

नन्दिनी—पिछले मदनोत्सव में मथुरा की जितनी कुमारियों को आपने यहाँ बुलाया था···

कौमुदी—एक साँस में कह दे···घुटुर-घुटुर क्या कह रही है ?

नन्दिनी—कई मिल गई थीं उनमें आज। सभी घेर कर पूछने लगीं मुझसे···क्या यह सच है···पर आपने तो कभी कहा नहीं··· मैं क्या बताती ?

कौमुदी—किस बात को सच कह रही थीं वे सब···

नन्दिनी—आप का कुमार अंगारक के साथ···

कौमुदी—(उत्तेजना में खड़ी हो कर) क्या···कौन कह रही थीं सब···

नन्दिनी—किनारे घाट पर जो शिव का मन्दिर है···पुजारी की

कन्या···

कौमुदी—उसका तो नाम ही यमुना है।

नन्दिनी—हाँ···और श्रेष्ठियों की तीन कुमारियाँ भी थीं···

कौमुदी—कौन कौन···

नन्दिनी—रेवती, रम्भा और राधा···

कौमुदी—अच्छा सभी रकार वाली···जिनके नाम का पहला अक्षर ही बीच से टेढ़ा है।

नन्दिनी—और भी बीसों तरुणियाँ जुट गईं वहाँ···सब का नाम तो मैं जानती नहीं। पर यह जानना सभी चाहती थीं कि आप कब कुमार के साथ···

कौमुदी—तो यह झूठ बात सब ओर फैल गई? मथुरा की कुमारियाँ भी जान गईं?

नन्दिनी—झूठ बात है यह देवपुत्री···? पैर पड़ती हूँ मुझसे न छिपायेंगी। (उसके पैरों पर झुकती है)

कौमुदी—(उसे दोनों हाथों से पकड़ कर) झूठ···उतना ही झूठ जितना कि एक पहर दिन चढ़ रहा है और कोई कहे कि इस समय रात है। समझी···

नन्दिनी—कह रही थीं सब···आपके पिताजी ने कुमार अंगारक का प्रस्ताव मान लिया है।

कौमुदी—ऐसा होता तो पहले मैं जानती···पर जो कहीं यह हो भी तो मैं इसे स्वीकार नहीं करूँगी।

नन्दिनी—(माला आगे बढ़ा कर) इसे पहन लीजिये।

कौमुदी—नहीं रे। अपने, हृदय, और वीणा के बीच मैं कोई

नहीं चाहती।

नन्दिनी—पर चिह्न जो पड़ गया है...कोई देख ले तो क्या सोचे?

कौमुदी—कहती चलो। चुप क्यों हो गई। क्या सोचे कोई वीणा के इस चिह्न को देख कर...हूँ...हूँ...परिहास सूझ रहा है?

नन्दिनी—कोई नहीं मानेगा कि ऐसे सुरक्षित स्थान पर वीणा के कोर की लीक ऐसी बन जायेगी। यहाँ तो यह कुछ दूसरी ही...न मानें तो किसी को दिखा कर पूछें...

कौमुदी—(मुसकरा कर उसका कान पकड़ लेती है) हाँ, अब कह किसे दिखा लूँ।

नन्दिनी—अन्तर्वेद के पूर्वी छत्रप कुमार अंगारक को।

कौमुदी—मुँह इधर फेर...थोड़ा झुक कर (उसके कपोल पर चपत लगाती है) हँसी सूझ रही है?

नन्दिनी—सी...सी...स्सी...हाय रे!...आय हाय! उँगलियों की साट उखड़ गई देवपुत्री! यह देखिये...

कौमुदी—अब जाओ कुमार अंगारक को दिखा आओ। देख लें वह भी तुम्हारे कपोल कितने कोमल हैं...जिन पर मेरी उँगली की साट सभी रेखायें ले कर उभड़ आती है। कौन जाने कुमार तुम्हारी सुकुमारता पर रीझ जायें और तुम्हारा भाग्य खुल जाय।

नन्दिनी—अच्छा तब जब मैं उनकी रानी बन जाऊँगी तब तो आपके बराबर बैठूँगी।

कौमुदी—अंगारक मेरे बराबर बैठते हैं?

नन्दिनी—नहीं तो...सभा भवन में उनका आसन आपके नीचे रहता है।

कौमुदी—बस जितने नीचे वे बैठते हैं उतने नीचे तू भी बैठेगी।

नन्दिनी—तब नहीं जाऊँगी मैं···भाग्य खुलने पर भी जब आसन अभी नीचे ही रहेगा तब भला है वह बन्द रहे। और फिर कुमार इस समय भूखे सिंह बन रहे हैं···कौन जाने सामने पड़ने पर कहीं···

कौमुदी—जा कर अपने कपोल की यह साट दिखा आओ उन्हें··· लाभ में रहोगी।

नन्दिनी—ऐसा बहुत देखा होगा उन्होंने···पर हाँ यह चिह्न कहीं देख पाते···(वीणा दण्ड की ओर संकेत करती है।)

कौमुदी—तब इसी देह से स्वर्ग पहुँच जाते···पर इस देह से कभी कोई स्वर्ग गया नहीं···इसलिए यह लाभ उन्हें न मिलेगा। पहना दे अपनी माला अब···इस समय मन वीणा में नहीं लगेगा।

नन्दिनी—(उसके कण्ठ में माला डाल कर) देवपुत्री!

कौमुदी—हाँ, कह···

नन्दिनी—क्या वे सुन्दर नहीं हैं?

कौमुदी—हैं···तो···

नन्दिनी—और वीर···

कौमुदी—वीर भी हैं···

नन्दिनी—तब उनमें कमी क्या है?

कौमुदी—किस बात के लिए?

नन्दिनी—जिसके लिए वे बराबर आपको अपनी पलकों में ले कर चलते हैं···लुक छिप कर आपको देखते नहीं अघाते···प्रासाद वितान पर सारी रात टहल कर काट देते हैं···नींद आती नहीं उन्हें केवल आपको देखने के लिए···

कौमुदी—(गहरी साँस ले कर) मुझे भी दया आ रही है उन पर···पर उनका साहस देखो। तात के पास उन्होंने मेरे साथ विवाह का प्रस्ताव लिख भेजा है। इसी मूल्य पर वे काशी के निकट कुषाण-राज्य की रक्षा करेंगे। आज वे मुझे माँग रहे हैं कल कुषाण राज्य माँग लेंगे। कुछ भी हो मेरा जन्म उनके लिए नहीं हुआ।

नन्दिनी—पर क्या आप नहीं जानतीं ?

कौमुदी—पहेली न बुझा···सीधे कह तू क्या जानती है ?

नन्दिनी—कुमार अंगारक आपको प्रेम करने लगे हैं। मदनोत्सव में···समूचे संसार में आपको छोड़ कर उनकी आँखों के लिए कहीं कुछ नहीं था···आपने भी तभी देख लिया था। तब से उनके हृदय पर क्या बीत रही है आपसे यह भी नहीं छिपा है। अब तो उनके प्राण आपकी मुट्ठी में हैं।

कौमुदी—हा···हा···हा···तब कह कि उनमें प्राण हैं ही नहीं। वह पुरुष भी क्या जिसका प्राण किसी स्त्री की मुट्ठी में चला जाय ?

नन्दिनी—यमुना के तीर पर···जल विहार के समय मयूरपोत में, इस प्रमदवन के हर कुंज, हर लतागृह में, रंगशाला में, सब कहीं आपकी परछाईं बने रहते हैं वे।

कौमुदी—देवता के मन्दिर में भी···शंकर का मन्दिर भी जैसे इस बेचारे के लिए मदन गृह बन जाता है। (घृणा की हँसी)

नन्दिनी—ऐं किस तरह की हँसी है यह···

कौमुदी—आनन्द की नहीं, उन्माद की भी नहीं, विपत्ति और भय की भी नहीं···

नन्दिनी—तब भला···

कौमुदी—विराग की...घृणा की हँसी है यह...

नन्दिनी—उनके प्रेम का आदर आप न करेंगी ?

कौमुदी—तुझे कुछ पुरस्कार दिया है क्या रे ? कुट्टनी का काम कर रही है ? सच कह...

नन्दिनी—(धरती पर आँखें गड़ा कर) जी...तो...

कौमुदी—नीचे देख कर नहीं...इधर देख...इधर मेरी ओर...नहीं सुनती ?

नन्दिनी—(उसकी ओर देख कर भय से पीली पड़ी आकृति के साथ...) जी अभी मैं उधर से आ रही थी।

कौमुदी—(तर्जनी दिखा कर) यह नहीं पूछती मैं...तू कहाँ से आ रही थी...केवल यही बता कि अंगारक ने तुझे कभी कुछ दिया ?

नन्दिनी—(सहम कर वस्त्र के नीचे से मोती की माला निकाल कर) उधर से आ रही थी...उन्होंने यह मुझे दे कर कहा "देवपुत्री को मेरी स्मृति दिलाना नन्दिनी।"

कौमुदी—और तूने इस कार्य के लिए यह माला ले ली...डरी नहीं तू...इतनी प्रतिहारियों में अकेली तू ही मेरे इतने समीप आ सकी थी।

नन्दिनी—(उसके पैरों पर गिर कर) इस बार मुझे क्षमा कर दें। (सिसकने लगती है)

कौमुदी—(उसे उठाते हुए) क्षमा कर दूँ...तब यह मोतियों की माला क्या होगी ?

नन्दिनी—उन्हें लौटा दूँगी...

कौमुदी—लौटा देगी ऐसी बढ़िया माला...

नन्दिनी—हर समय वह पूछेंगे देवपुत्री से कुछ कहा तो क्या कहूँगी ?

कौमुदी—कह देना देवपुत्री भी उन्हें प्रेम करने लगी हैं···वह संयोग तो आये ।

नन्दिनी—झूठ कहूँगी ।

कौमुदी—ऐसे लोलुप पुरुष से झूठ बोलना पाप नहीं है···जो दूसरों के लिए जाल बिछाता है, स्वयं उसी में फँसे···

नन्दिनी—जी···तब···

कौमुदी—इधर दे···(उसके हाथ से माला ले कर उसे ही पहना देती है) निकालना मत···समझ गई···तुम्हारे गले में इसे झूलती देख कर अंगारक समझेंगे उनका प्रस्ताव मैंने मान लिया ।

नन्दिनी—(घबड़ा कर) तब तो यह धोखा होगा ।

कौमुदी—क्यों रे ! धोखा पुरुष करे पर स्त्री नहीं···निकालना मत पहने रहना ।

नन्दिनी—पर वे पूछेंगे तब···

कौमुदी—कह तो दिया···कहना संयोग आने दो···देवपुत्री तुम्हारी हो कर रहेंगी···केवल तुम्हारी···

नन्दिनी—फिर झूठ बोलने का दोष मेरा नहीं होगा ।

कौमुदी—सारा दोष मैं उठा लूँगी···तुम चिंता मत करो ।

नन्दिनी—अभी आये थे···(हाथ उठा कर) वहाँ खड़े हो कर आपको देख रहे थे ।

कौमुदी—मुझे वह पुरुष चाहिये नन्दिनी ! जिसकी परछाईं मैं बनूँ । पर जो पुरुष मेरी परछाईं बन गया, संयम और धैर्य का बाँध

जिसका टूट गया···जिसे अब मैं जीत चुकी···वह मेरा पति बनेगा? जिसकी परछाईं मैं बनूँगी···जो मुझे जीत कर विवश कर देगा···उसके कण्ठ की माला मेरी बाहें बनेंगी।

नन्दिनी—(विनोद में) और तब वह···

कौमुदी—हाँ और तब वह वीणा का यह चिह्न देखेगा। समझ रही हो। जब पुरुष आगे बढ़ता है स्त्री भय खाती है पर जब वह गोवर्धन सा अडिग रहता है···स्त्री उसकी लगन में सब भूल जाती है।

नन्दिनी—पूछ रहे थे कुमारी पुरुषपुर कब जायेंगी?

कौमुदी—कुमार अंगारक···

नन्दिनी—जी···हाँ···

कौमुदी—पूछा नहीं किस लिए वे यह जानना चाहते हैं?

नन्दिनी—कह रहे थे तब वे आपके अंगरक्षक बन कर जायेंगे।

कौमुदी—अच्छा···पति बनने का प्रस्ताव किया है और अंगरक्षक बन कर जायेंगे।

नन्दिनी—जी···पर सबसे दृढ़ अंगरक्षक पति होता भी तो है।

कौमुदी—अब समझी···(गहरे सोच में पड़ जाती है)

नन्दिनी—किस सोच में पड़ गईं···? ऐसी बुरी हूँ मैं सब कह देती हूँ (अपने पेट पर हाथ रख कर) इस पेट में कुछ पचता ही नहीं।

कौमुदी—स्त्री के पेट में बात कभी नहीं पचती नन्दिनी···इसी लिए तो न वह कभी राज्य करती है, न मन्त्री बनती है···पुरोहित तक तो वह होती ही नहीं, दूसरे काम की क्या बात?

नन्दिनी—पुरुषपुर मुझे तो साथ ले चलेंगी।

कौमुदी—पर मैं अब पुरुषपुर न जाऊँगी···वहाँ फूलों में न यह

गन्ध हैं न रंग···नीलम की यमुना वहाँ नहीं है···इस वायु-मंडल में··· यमुना की हर लहर में मोहन की वंशी बजती है नन्दिनी···इसकी ध्वनि वहाँ कहाँ···?

नन्दिनी—(विस्मय में) देवपुत्री ? मैंने तो कभी नहीं सुना ? क्या कह रही हैं आप ?

कौमुदी—मैं बराबर सुनती हूँ···वंशी की वही ध्वनि मुझे मोह कर सुला देती है, भोर में उसी की टेर में जागती हूँ···जलविहार में लहरों से वही ध्वनि निकल कर हृदय में अमृत बरसाती है। यही धरती है जहाँ वह गोपाल पैदा हुआ था···जिसने एक ही साथ कितनी तरुणियों का हृदय जीता था। दक्षिण के कुंजवन में हर पूनों को जिनके साथ उसका अब भी रास होता है।

नन्दिनी—हर पूनों को···तो वे लोग नगर छोड़ कर वन में चले गये हैं।

कौमुदी—(हँस कर) हाँ···प्रेम भी वन का विस्तार और उसकी सघनता चाहता है। नगर का प्रेम पालतू पक्षियों का प्रेम होता है। जिस रात यह रास होता है, यमुना की लहरें भी नाचने लगती हैं नन्दिनी !

नन्दिनी—मैं नहीं समझ पा रही हूँ यह···

कौमुदी—(भावोन्मेष में) रात ही सुना मैंने···वंशी की ध्वनि में गोपियों के नूपुर की रुन झुन···उनकी हँसी, मान मनुहार सब कुछ सुनती रही मैं। पंख होते तो उड़ कर वहीं चली जाती (उसकी आकृति पर स्वप्न के भाव आ जाते हैं)

नन्दिनी—देवपुत्री ! आप सपना देख रही हैं।

कौमुदी—यह जीवन भी तो सपना है री...सपने सा ही पल में मिट जाने वाला...जिसे हम वर्ष कहते हैं किसी लोक के पल के बराबर होगा।

नन्दिनी—यह सब न कहें, मुझे भय लग रहा है।

कौमुदी—इसी भय से मुक्त होने के लिए गोपियों के साथ कृष्ण का रास मचा था। जिनकी आँखों में उसके दृश्य, कानों में उसके स्वर और हृदय में उसका आनन्द छा जाता है फिर वे भय से छूट जाते हैं।

नन्दिनी—(विस्मय में) सचमुच ऐसा होता है ?

कौमुदी—मथुरा की नारियों से पूछो...सब कहेंगी कि उन्होंने सुना। तुम्हारा जन्म यवन देश में हुआ था...पर मेरा जन्म यहीं इसी मथुरा में हुआ...किसी से पूछ देखो...किसी कुमार कुमारी से जिसका जन्म इस भूमि में हुआ हो...सभी कहेंगे कि उन्होंने सुना।

नन्दिनी—यह कोई जादू होगा ?

कौमुदी—तुम्हारे लिए...मेरे लिए इससे बड़ा कोई दूसरा सत्य नहीं।

नन्दिनी—आप मुझे विस्मय में डाल रही हैं।

कौमुदी—जब तक अनुभव नहीं होता सभी विस्मय होता है। नवजात शिशु भी जब इस धरती पर आँखें खोलता है...वह भी सब कुछ विस्मय से देखता है। पर जब वह उसमें रम जाता है...दिन के सूर्य से अधिक तेज और रात के चन्द्रमा से अधिक शीतल वही अनुभव हो जाता है।

नन्दिनी—ठहरिये देवपुत्री...

कौमुदी—(सजग हो कर) क्या···

नन्दिनी—आपके कण्ठ, कपोल और ललाट से पसीना निकल रहा है···आँचल से हवा कर दूँ ।

कौमुदी—उस एक गोपाल की कितनी सखियाँ थीं···वह किसी की कामना नहीं करता था इसलिए जितनी कुमारियाँ थीं सभी उसी की कामना करने लगीं। कामना रमणी करती है नन्दिनी···वह ग्रहण करती है, दान नहीं करती ।

नन्दिनी—ओह ! तब कुमार अंगारक भूल गये···दान न दे कर ग्रहण करने लगे ।

कौमुदी—मदनोत्सव के अवसर पर अप्सराओं को लजाने वाली मथुरा की कुमारियाँ इसी प्रमदवन में आई थीं···अंगारक के साथ तरुण भी कितने थे ।

नन्दिनी—जी···हाँ···

कौमुदी—(गहरी साँस ले कर) ठहरो साँस तो ले लेने दो···देखा तुमने उस नाग युवक को···हाँ···क्या नाम है उनका ?

नन्दिनी—(हँस कर) कल जलविहार में वे भी आपके साथ थे···उनका नाम भूल गईं !

कौमुदी—उसका नाम मैं बराबर भूल जाती हूँ···हाँ क्या नाम है ?

नन्दिनी—वीरसेन···कहिये तो दो तीन चार याद पड़ जाय···फिर न भूले ।

कौमुदी—अरे चल ! उस नाम की माला नहीं जपूँगी मैं···

नन्दिनी—फिर भूल जायेंगी···

कौमुदी—चुप नहीं रहेगी···कह दिया वह नाम मैं न लूँगी ।

नन्दिनी—आप रुष्ट हो गईं···

कौमुदी—ऐसी बात ही तू करती है कि···

नन्दिनी—अब न कहूँगी।

कौमुदी—याद है कितनी खुल कर···बालक-सी निर्विकार हँसी थी उनकी। कौतुक में कोई भी उनके सामने न टिक सका, एक-एक कुमारी को रंग से लाल कर दिया जिसने, पर जिसका मन किसी भी कुमारी को देख कर न हिला, किसी के रूप का सम्मोहन जिस पर न चढ़ा···(गहरी साँस ले कर चुप हो जाती है)

नन्दिनी—देवपुत्री···

कौमुदी—हाँ···कह···

नन्दिनी—आप रुष्ट हो जायेंगी···

कौमुदी—(जैसे उसकी बात न सुन कर) किस कुमारी को नहीं जीत लिया उस एक ने···पर उसे कोई न जीत सकी···गोपियों का वह अकेला गोपाल···दक्षिण का यह साधारण नाग युवक···कितना बल है उसमें। आँखों में न लालसा है और न मन में कोई कामना। ऐसा ही रहा होगा वह गोपाल···इससे भी बड़ा···(उसकी आँखों में विस्मय का भाव भर जाता है।)

नन्दिनी—देवपुत्री ! तब तो आपका मन उनमें रम गया है··· आँखें भरी हैं आपकी। कपोल पर लाल चन्दन का लेप चढ़ा है···देह भर में रोमांच है।

कौमुदी—(सँभल कर) यह इतना सब देख रही है मेरी देह में··· जानती है इस देश में वीर कौन कहा जाता है ? सब से बड़ा वीर ?

नन्दिनी—जो युद्ध में अकेले सभी शत्रुओं को हरा देता है।

कौमुदी—नहीं रे···ऐसा करने वाला यहाँ महावीर नहीं है। यह तो कोई बड़ा कार्य नहीं है।

नन्दिनी—तब इससे बड़ा कार्य दूसरा क्या है जो किसी को महावीर बनाये।

कौमुदी—हाँ···है···

नन्दिनी—फिर कहिये क्या है वह ?

कौमुदी—इस देश का परम वीर वह है जिसके हृदय में कामदेव के बाण की पीड़ा नहीं होती और मनस्वी वह है जो कभी भी रमणी के कटाक्ष के मोह में न पड़े।

नन्दिनी—तब यहाँ पुरुष नहीं बसते···सभी योगी हैं...

कौमुदी—यहाँ जो योगी नहीं है वह पुरुष भी नहीं है। अंगारक पुरुष नहीं हैं इसलिए कि पहले योगी नहीं हैं। रमणी की आँखों से निकल कर कामदेव के बाण सीधे उनके हृदय पर पड़ते हैं और तब वे अनुराग के मद से अन्धे हो कर पुरुष के शील और संयम दोनों को उड़ा देते हैं। कोई भी सुन्दरी उनके हृदय पर चरण रख कर चल सकती है। (घृणा की हँसी)

नन्दिनी—जी···वे अपने हृदय से असावधान हैं और फिर उनकी अवस्था भी अभी···

कौमुदी—फिर भी साल दो साल नाग युवक से तो वे बड़े हैं हीं···मैं तो समझती हूँ···पाँच साल से कम बड़े न होंगे। उनके अंग अधिक कठोर देख पड़ते हैं और श्मश्रु के बाल भी अधिक रूक्ष हैं। सब कुछ कठोर और दृढ़ है केवल हृदय थोड़ी भी अनुराग की आँच में मक्खन-सा पिघल कर बह जाता है। ऐसे पुरुष का क्या विश्वास···

नन्दिनी—तव देवपुत्री उनका निरीक्षण करती रही हैं…

कौमुदी—मैं ही नहीं…तू भी…कोई भी कुमारी पुरुष की परीक्षा बड़ी जल्दी कर लेती है। हमारी आँखें सब कुछ पार कर देख लेती हैं और सब कुछ पार कर हमारे कान सुन भी लेते हैं। हम चुप भर रहें…मुँह न खोलें फिर तो हम सब देख सुन लेंगी।

नन्दिनी—जी…हम भी योग साधें…

कौमुदी—हाँ…मौन योग…

नन्दिनी—तब…विश्वास करें आप मैं किसी से नहीं कहूँगी…

कौमुदी—(हँस कर) क्या सुनना चाहती है ?

नन्दिनी—आपका मन वीरसेन में…

कौमुदी—सीधे नाम ले रही है…उसके पहले कुमार तो लगा देती जैसे कुमार अंगारक कहती है…

नन्दिनी—अच्छा कुमार वीरसेन में…

कौमुदी—प्रेम की वाणी मूक होती है…उसमें कण्ठ के ऊपर शब्द आना नहीं चाहते…इधर देख मेरी ओर…

नन्दिनी—(कठिनाई से उसकी ओर देख कर) जी…हाँ…

कौमुदी—(मुसकरा कर) किसी से कुछ न कहना। अपने वश में नहीं हूँ मैं अब…समझी…

नन्दिनी—(विस्मय में) कुमार वीरसेन के भाग्य से देवता भी डाह करेंगे राजकुमारी ! कहाँ देवपुत्र शाहि शाहानुशाही वासुदेव की पुत्री और कहाँ आपकी सेना के सामान्य नायक वह भी नाग कुल के…।

कौमुदी—पुरुष का गुण उसके कुल और जन्म में न देख कर उसके पौरुष में देखो नन्दिनी…देखो उसमें संयम है…शील है…अपने हृदय

का राजा वह है कि नहीं। जहाँ तहाँ घुटने टेकते नहीं चलता वह। प्रेम की भीख माँगने वाला तो नहीं है वह और सबसे अधिक वह अल्हड़ है कि नहीं? प्राण को हथेली पर ले कर चलने वाला··· निर्विकार खुल कर हँसने वाला वह है कि नहीं?

नन्दिनी—जिसमें इतने गुण हों तब···

कौमुदी—कुमार अंगारक अपने बल और रूप का लेखा बनाते रहते हैं। जहाँ देखो वहीं अपने गुण के प्रचार में वे लगे रहते हैं। काशी मण्डल की रक्षा वे अब तभी करेंगे जब तात उनका प्रस्ताव मान कर उन्हें अपनी कन्या का पुरस्कार देंगे। जिसकी तीन पीढ़ी अब तक हमारी सेवक रही उसका दम्भ तो देखो!

नन्दिनी—तीन पीढ़ी देवपुत्री···

कौमुदी—तब क्या? अंगारक के पितामह वनष्पर काशी के क्षत्रप बनाये गये थे। देवपुत्रों का सेवक बनना ही उनका सब से बड़ा भाग्योदय था और यहाँ उन्हीं का पोता अब देवपुत्रों के रक्त में भी अपना अधिकार चाहता है।

नन्दिनी—तब तो यह घोर अधर्म है।

कौमुदी—पश्चिम में···पुरुषपुर, कनिष्कपुर और कुण्डलवन पर प्रत्यन्त दस्यु समुद्र की लहरों से आ कर टकरा रहे हैं। तात उधर ही व्यूह और रक्षा की योजना में लगे हैं···इधर उनके सेवक ऐसी प्रस्तावना कर रहे हैं (बैठ कर हाथों में मुँह छिपा लेती है।)

नन्दिनी—यह क्या हाँ···हाँ···देवपुत्री!

कौमुदी—कुम्हार के चक्के की तरह देह घूम गई नन्दिनी!

नन्दिनी—(हाथ से उसकी पीठ सहलाती रहती है) अब यहाँ से

चलें अन्तःपुर में···वहाँ पर्यंक पर विश्राम···

कौमुदी—हा···हा···हा···किन बीहड़ वनों में भटकना पड़ेगा मुझे···कौन जाने ? पश्चिम में हमारे राज्य की जड़ें हिल रही हैं··· पूर्व में भी अब वही संकट के बादल छा रहे हैं। हमारा राज्य अब इस देश से हट जायेगा···वह दिन दूर नहीं है नन्दिनी···(निराश मुद्रा)

नन्दिनी—ऐसा न कहें देवपुत्री ! देवविजयी चक्रवर्ती कनिष्क का राज्य···उनकी राज्यलक्ष्मी अभय रहेगी।

कौमुदी—आशा अन्त तक नहीं टूटती···फिर भी बुद्धिमान भविष्य को पहले ही देख लेते हैं। ऐसा न होने को होता···तो कुमार अंगारक इतने लोलुप न होते। इस समय उनकी बाँहें साम्राज्य की रक्षा में लगी होतीं नहीं तो वे यहाँ चुपचाप माला गूँथने में लगी हैं या सात बार कादम्बरी पीने में।

नन्दिनी—यह वही राजवंश है देवपुत्री, जिसमें देवपुत्र कनिष्क पैदा हुए थे।

कौमुदी—राजवंशों में यही तो दोष होता है।

नन्दिनी—कैसा दोष···

कौमुदी—प्रकृति बराबर रानियों के पेट से मेधावी और बली बालक नहीं पैदा करती···पर राज्य के चक्र को चलाने के लिए यह आवश्यक है कि सभी राजा बल, बुद्धि और विद्या में एक ही कोटि के हों। प्रकृति यह कहाँ होने देती है···बली का पुत्र निर्बल और विद्वान् का मूर्ख भी होता है। हर नई पीढ़ी में पुरानी पीढ़ी का सारा गुण कभी नहीं आता और न तो पिता पुत्र, नाती, पनाती, सनाती बल और बुद्धि में कहीं समान हुए हैं। यही कारण है कि योग्य हाथों में

राजदण्ड स्थिर रहता है और अयोग्य हाथों से छूट कर गिर पड़ता है।

नन्दिनी—आपके पिता देवपुत्र अयोग्य हैं···

कौमुदी—उन देवपुत्र कनिष्क से कोई यह प्रस्ताव करने का साहस करता ? अंगारक के पूर्व पुरुष वनप्पर ने वह कार्य क्यों नहीं किया जो अंगारक करना चाहते हैं।

नन्दिनी—जी···हाँ···तो···

कौमुदी—देवपुत्र कनिष्क की ओर देखने में भी वनप्पर पसीजने लगता रहा होगा। उनका आतंक था···तात···बड़े सीधे हैं···राजनीति में दया और उदारता को दूर फेंक कर ही राज्य चलाया जा सकेगा। निर्बल राजनीति से लाभ अपने और पराये सभी लेते हैं जैसे निर्बल की स्त्री···से···

नन्दिनी—(हँस कर) आप भी···निर्बल की स्त्री से भी···

कौमुदी—झूठ नहीं है यह···धरती और नारी दोनों की बुरी गति होती है निर्बल के साथ रहने में···देवपुत्रों का राज्य अब न टिकेगा। उनके पैर उखड़ जायेंगे। नाग युवक और अंगारक की तुलना कर देखो।

नन्दिनी—जी···लग तो रहा है···मैं तो यह सब सुन कर डर गई।

कौमुदी—समझ रही हो···इन दोनों को सामने खड़ा कर देखो इस देश के पुरुष कैसे हैं ? विदेशी देवपुत्र कितने दिन टिकेंगे यहाँ अब ?

नन्दिनी—तब तो आप पुरुषपुर जायेंगी।

कौमुदी—अपनी जन्मभूमि छोड़ कर···

नन्दिनी—(उत्सुक हो कर) तब···

कौमुदी—मथुरा और यमुना को छोड़ कर मैं कहीं नहीं जाऊँगी। मेरा जन्म यहीं हुआ···जन्म का यह अधिकार मैं न छोड़ूँगी। कौन छुड़ायेगा मुझसे? यह दुर्ग न रहे मेरा पर यह धरती तो मेरी रहेगी।

नन्दिनी—कुछ छिपा रही हैं देवपुत्री!

कौमुदी—(तन कर खड़ी होती हुई) केवल यह हृदय जो अब बस उस एक के सामने खुलेगा।

नन्दिनी—कुमार वीरसेन के···

कौमुदी—चुप···वह नाम फिर ले रही है?

नन्दिनी—पर देवपुत्री! अनर्थ होगा। कुमार अंगारक उन्हें जीने न देंगे···

कौमुदी—(उद्वेग में) उनकी आयु अंगारक के हाथ में है? कह क्या रही है नन्दिनी! अंगारक उनके यमराज बनेंगे?

नन्दिनी—यह माला ले कर भीतर आ रही थी···सिंहद्वार से···

कौमुदी—(साँस रोक कर) तब क्या हुआ···

नन्दिनी—वे दो कुषाण सैनिकों से बातें कर रहे थे। उन दोनों की आँखों में पिशाच खेल रहा था। उन दोनों को देखते ही मारे भय के मेरे रोयें फूट गये। कुमार अंगारक की आँखों में भी सन्देह और किसी कूट संकल्प की छाया थी। पहले तो मुझे देख कर सन्न रह गये···फिर मुझे यह मोती की माला दे कर आपको स्मरण दिलाने को कहा···इतना तो मैं भी भाँप गई कि उनके भीतर चल कुछ रहा था और वे कह कुछ रहे थे।

कौमुदी—(गहरी चिंता में) इस समय वे यमुना तीर के शिवालय में शिव की पूजा करते हैं···यह नियम उनका अटल है···

नन्दिनी—हे भगवान···इतना तो उनको कहते सुना मैंने···वहीं तीर के शिव मन्दिर में···उनकी आँखों का क्रूर संकल्प···तब क्या होगा ? (थरथर काँपती है।)

कौमुदी—यह वीणा उठा ले । मैं देखूँ भाई कनिष्क कहाँ हैं ? पर अब देर हो गई । पहले क्यों नहीं कहा हत्यारी···! (लड़खड़ाती हुई आगे अंतःपुर की ओर बढ़ती है। कौमुदी वीणा उठाये उसके पीछे घबड़ाई सी चल रही है। चलते ही चलते) *तेरा मुँह न देखूँगी नन्दिनी ! जो बात पहले ही···आते ही कहनी थी···वही पेट में दाबे रह गई । फट नहीं पड़ा पेट तेरा ?*

नन्दिनी—सच कहती हूँ मैं भूल गई !

कौमुदी—हाय ! तुझे यह धरती न भूली···भूल गई वही बात !

दृश्य परिवर्तन

[अन्तःपुर का वही कक्ष । कुमार कनिष्क दूसरे से कमरे में झाँक कर लौट जाता है। कौमुदी और नन्दिनी का प्रवेश। कौमुदी काँप कर लड़खड़ा पड़ती है। नन्दिनी की आकृति काली पड़ गई है।]

कौमुदी—धर दे वीणा यहाँ किनारे···दौड़ कर देख भाई कहाँ हैं ।

[नन्दिनी वीणा रख कर जल्दी से बाहर निकलती है। कौमुदी दोनों हाथों से सिर पकड़ कर धरती पर गिर पड़ती है। पर तुरत ही उठ कर वह भी बाहर भागती है।]

नेपथ्य में—मन्दिर में जिस समय मैं पूजा कर रहा था अपने इष्टदेव की···उस समय चोरी से आघात किया दस्यु···

नेपथ्य में—हा···हा···हा···तू दास क्या जाने···राजनीति के व्यवहारों को···

नेपथ्य—धिक्कार है तुम्हें दस्युराज···इस पाप का फल कभी···

नेपथ्य में—अंगारक ! चुप रहो तुम···वीरसेन ! देवपुत्री के पास चलो···चुपचाप···वहीं तुम्हारा न्याय होगा।

कौमुदी (नेपथ्य में)—(भय और दुःख में) इधर से ही बोली आ रही है नन्दिनी···

नन्दिनी (नेपथ्य में)—हाँ देवपुत्री ! दोनों वे और आपके भाई। सम्हल कर···गिर न पड़ें राजकुमारी ! आपकी सारी देह काँप रही है।

कौमुदी (नेपथ्य में)—राजपुत्री नहीं···इस संसार में मैं सबसे बड़ी अभागिनी···

[कनिष्क, अंगारक और वीरसेन का प्रवेश। वीरसेन के दोनों हाथ बँधे हैं। कनिष्क की अवस्था प्रायः अठारह वर्ष की है, रत्नों की माला और स्वर्ण के तार से बेलबूटे बना लम्बा चोगा पहने है। अंगारक प्रायः चौबीस वर्ष का है। हाथ में खुला खड्ग लिये क्रोध में काँप रहा है। वीरसेन प्रायः बीस वर्ष का है···दोनों हाथ बँधे होने पर भी निर्भय मुसकरा रहा है। वीरसेन का रंग कनिष्क और अंगारक की भाँति गौर नहीं, फिर भी ललाई और तेज अधिक है। प्रशस्त ललाट, छाती और बाँहों पर भस्म का त्रिपुण्ड, कंठ के बीच में नीलचिह्न उसे नीलकंठ बना रहा है।]

कनिष्क—तुम दोनों यहीं रुको···देखूँ देवपुत्री कहाँ हैं ? (वेग से प्रस्थान)

अंगारक—(क्रोध में) उद्धत नाग···

वीरसेन—(मुसकरा कर) कहो कृपाण दस्यु ! देवपुत्र कनिष्क की राजनीति के कलंक ! क्या कहना है ? जिनके राज्य में अपराध सुने नहीं गये…तुम उन्हीं के वंशज वासुदेव के छत्रप हो कर चोरी से मंदिर में आघात करते हो ? (मुसकराता है।)

अंगारक—(क्रोध में दाँत पीस कर) देख ले अभी क्या न्याय होता है। सिंह की प्रिया की ओर स्यार के आँख उठा कर देखने का दण्ड…हा…हा…ा…(क्रूर हँसी)

वीरसेन—कोई चिन्ता नहीं…महाराज कनिष्क के न्याय की बात तुम भी जानते होगे।

अंगारक—देवपुत्र वासुदेव की पुत्री तुम दास के लिए नहीं बनीं…

वीरसेन—सावधान…किस मुँह से दास कह रहा है मुझे नीच…

अंगारक—अपने इसी मुख से…जो काशी में गंगा के बीच कमल सा दिखाई पड़ता है।

वीरसेन—ग्राह सा नहीं…चोरी और धूर्तता में तुम जिसके बहुत आगे हो।

अंगारक—(तलवार हिला कर) देख ले यह…

वीरसेन—देखूँगा कभी…जब मेरे हाथ में भी खड्ग होगा।

अंगारक—अच्छी बात…आने दो देवपुत्री को…यहीं द्वन्द्व हो जाय। राजबन्दी हो…कुमार कनिष्क ने जो अपने हाथ से यह बन्धन न डाला होता तो मेरा यह खड्ग तुम्हारा रक्त कभी का पी लिये होता।

वीरसेन—तब देवपुत्रों का न्याय इस धरती से उठ जाता।

अंगारक—न्याय दास के साथ…

वीरसेन—फिर पूछ रहा हूँ किस मुँह से दास कह रहा है मुझे…

अंगारक—इसी मुँह से...जिस दिन देवपुत्र शाहानुशाहि ने तेरे इस देश को उद्यान की ध्वजा के नीचे झुकाया था...उस दिन हम विजेताओं के चरण तुम्हारे सिर पर पड़े। आज भी पड़े हैं...पराजित जाति किस दम्भ से अपने राजकुल का अपमान करेगी ?

वीरसेन—इसी का उत्तर देने में यहाँ आया...विदेशी शत्रुओं का बल बाहर से नहीं भीतर से आँकने के लिए...देख लिया...

अंगारक—अभी नहीं रे ! अब देख...

वीरसेन—कुषाण पहले धक्के में ही धरती की धूल चाट लेंगे।

अंगारक—(पैर पटक कर) काट लूँगा जीभ...इसी लिए देवपुत्री को प्रेम करने लगा ?

वीरसेन—(व्यंग से) तुम्हारी राजपुत्री को जीत लेना...तुम्हारी श्री और तुम्हारे गौरव को जीत लेना है विदेशी दस्यु ! चक्रवर्ती सम्राट् चन्द्रगुप्त ने यवन राजबाला को पहले जीता और तब यवन सेना को।

अंगारक—हूँ...उस सपने में पड़ा है अधम !

वीरसेन—हाँ...तुम जैसे लोलुप से राजपुत्री बच तो जायेंगी।

अंगारक—अच्छा...पर किस तरह ? मेरा प्रस्ताव देवपुत्र वासुदेव ने मान लिया है।

वीरसेन—और देवपुत्री ने...

अंगारक—(हँस कर) उन्हें चुपचाप मेरे पीछे अब चलना ही पड़ेगा ?

वीरसेन—तब तो तुम्हारे भाग्य से सूर्य भी सहम उठेंगे।

अंगारक—मेरे भाग्य का तेज ऐसा ही है अत्र शत्रुचर...!

[कनिष्क और कौमुदी का प्रवेश। कौमुदी घबड़ाहट में लड़खड़ाती चल रही है।]

कनिष्क—देवपुत्री ! मैंने दूध पिला कर इस नाग के बच्चे को पाला । सेना में नायक बनाया इसे···और इसने आज हमारे दो सैनिकों को संघातक चोट···

कौमुदी—(आगे बढ़ती हुई) पहले इनका बन्धन खोल कर··· (खोलने लगती है ।)

अंगारक—हाँ···हाँ···क्या कर रही हैं यह देवपुत्री ! देवपुत्र के सैनिकों पर इसने आघात किया ।

कौमुदी—मेरे अधिकार में तुम्हें सन्देह है अंगारक ! यही था तब न्याय के लिए मेरे सामने इन्हें न लाना था । (बन्धन खोल कर) तुम कहो नाग क्या बात है ?

वीरसेन—(दोनों हाथों को झटक कर) देवपुत्र उन सम्राट् कनिष्क की राजनीति में···अब शिव की पूजा करते निरस्त्र पर भी चोरी से आघात हो रहा है ।

कौमुदी—जो न हो जाय नागराज ! अब···देवपुत्रों का दिन बीत गया···यह उनकी रात है । (अंगारक की ओर घृणा से देखती है)

अंगारक—नागराज है यह कि देवपुत्र का दास···उनकी सेना का नायक···

वीरसेन—मैं शत्रुचर हूँ राजकुमारी ! पद्मावती का वीरसेन नाग । यहाँ सेना में नायक का पद लिया था मैंने···केवल कुषाण शक्ति की थाह के लिए ।

कनिष्क—तब काशी के समीप गंगा में जो पण्यद्रव्य लूटे जा रहे हैं···कान्तिपुरी का नागयूथ गंगा के जल में घुस कर जो विन्ध्य के उत्तर कोई भी सामग्री नहीं आने देता···तुम्हारी राय से ।

वीरसेन—केवल आठ मास मुझे यहाँ रहते हुए···इस बीच भी कोई ऐसी घटना हुई है ?

कनिष्क—देवपुत्री ! मन्त्री से पूछ आऊँ मैं···

कौमुदी—उस छोर के छत्रप तो यहीं हैं···

अंगारक—इन घटनाओं का लेखा मैं नहीं रखता···

कौमुदी—पर क्यों ? छत्रप वनष्पर इन घटनाओं का लेखा रखते थे कि नहीं ? ठहरो भाई···मैं जानती हूँ···इस बीच कोई घटना ऐसी नहीं हुई।

अंगारक—(वीरसेन की ओर संकेत कर) देवपुत्र का यह दास जब चाहेगा गंगा का मार्ग बन्द कर देगा और जब चाहेगा खोल देगा। यही न ?

वीरसेन—जिस राज्य मे जनता के पेट की चिन्ता नहीं होती, जहाँ शासक जनता का पेट काट कर अपना भण्डार भरते हैं···यही होता है। प्रजा का पेट भरता रहे···सब ओर सुख और शान्ति रहेगी; पर जब वहाँ भूख की आग धधकी···राज्य जल कर स्वाहा हुआ। सदैव यही हुआ है और यही होगा।

कौमुदी—झूठ तो नहीं कह रहे हो नाग युवक···

वीरसेन—देवपुत्री ! अपना कुल मैंने पहले भी नहीं छिपाया। केवल उद्देश्य मैंने छिपाया था···आपके भाई देवपुत्र कनिष्क ने समझा मैं अपनी जीविका के लिए उनकी सेना में आया हूँ। नायक बनाने के पहले मेरी परीक्षा ली गई और तब मुझे यह पद मिला।

कनिष्क—तुम हमारा भेद लेने आये थे ! इसका दण्ड भी जानते हो ?

वीरसेन—जानता हूँ···पर मेरे न्याय का अधिकार अब कुशाए देवपुत्रों को न मिलेगा। इसी जगह लड़ कर मरूँगा। राजपुत्री के न्याय में विश्वास कर मैंने आपको···अपने हाथ बाँधने दिये।

कौमुदी—(क्रोध से काँपते कनिष्क का कन्धा हिला कर) जिस महापुरुष का नाम तुमने धारण किया है भाई···उन देवपुत्र कनिष्क के न्याय की मर्यादा न मिटाओ, अपने पूर्वपुरुष उन प्रपितामह कनिष्क की।

कनिष्क—हमारे दो सैनिकों का सर फट गया है देवपुत्री!

कौमुदी—यह तो कोई नहीं कहता कि इनके किस अपराध का दण्ड देना है?

अंगारक—(काँप कर) देवपुत्री अपने इस दास को प्रेम करने लगी हैं कुमार! आप नहीं जानते।

कौमुदी—सुन लिया कुमार कनिष्क आपने? यह मर्यादा है आप की बहन देवपुत्री की।

अंगारक—रात आधी रात के बाद यह अन्तःपुर में आया था।

कौमुदी—कुमार! क्या कह रहा है यह अभद्र? (क्रोध में ओठ काटती है।)

कनिष्क—मैंने बुलाया था वीरसेन को अंगारक! विन्ध्यमेखला में प्राकृतिक दृश्य···और आखेट के लिए। देवपुत्री भी मेरे साथ थीं।

अंगारक—इस शत्रु का इतना विश्वास···जिसके साथी पूर्व में हमारे राज्य की जड़ खोद रहे हैं? और फिर देवपुत्री को यह किन आँखों से देखता है!

वीरसेन—इसी ईर्ष्या में पूजा के समय तुमने मुझ निरस्त्र पर आक्रमण किया दस्युराज! या तुम झूठ बोलते हो···देवपुत्री की ओर

आँख उठा कर मैंने कभी नहीं देखा है।

अंगारक—देवपुत्री देखती रही हैं।

कौमुदी—तब उसका दण्ड मुझे दो अंगारक...

कनिष्क—हूँ...तब यहाँ...मुझे...

कौमुदी—न्याय और कर्तव्य की आँच तुम न सह सकोगे भाई... पर नहीं...जब इस सारे काण्ड की जड़ छत्रप अंगारक मुझे बना रहे हैं...तुम्हें रुकना होगा। (वीरसेन की ओर देख कर) हाँ...कहो किस तरह क्या हुआ?

वीरसेन—शंकर के मन्दिर में पूजा कर रहा था देवपुत्री! पीछे से खड्ग का आघात मेरे सिर पर हुआ। उष्णीष कट कर झूल गया...(सिर पर हाथ कर) देखिये यह।

कौमुदी—(दुःख में) कुषाण राज्य जड़ कटे पेड़ सा अब गिर पड़ेगा कुमार! (कनिष्क की ओर देख कर) देख रहे हो पूजा करते समय हत्या का यह प्रयत्न! (वीरसेन से) तुम्हारे सिर से रक्त निकल रहा है...पहले इसका उपचार कर लो।

वीरसेन—इसका उपचार अब पद्मावती में होगा देवपुत्री! प्रणाम कर जब खड़ा हुआ...अंगारक के दोनों दस्यु दो ओर से खड्ग हिलाते टूट पड़े। अर्घ्यपात्र से रोक कर मैंने दोनों के खड्ग छीन कर दोनों का कण्ठ पकड़ कर लड़ा दिया! अंगारक को जिस दिन द्वन्द्वयुद्ध में मारूँगा...शिवपुरी काशी में अश्वमेध करूँगा।

अंगारक—किस दिन...आज ही क्यों नहीं?

वीरसेन—चोरी से आक्रमण करने वाले को द्वन्द्व के लिए निमन्त्रित करने में भी मुझे लाज आ रही है...फिर भी देवपुत्र मुझे

खड्ग दे दें और हम दोनों का द्वन्द्व इसी कक्ष में हो जाय ।

कौमुदी—वे दोनों दस्यु कौन थे ?

वीरसेन—टंकण और करील···

कौमुदी—देवपुत्र की सेना में आने के पहले जो निषध पर्वत की तलेटी में हत्या और लूट में प्रसिद्ध थे । सुनते हैं टंकण ने अकेले तीन सौ निरपराध यात्रियों का वध कर उनका धन लूटा था । अभी कुछ न्याय शेष है भाई ! उन हत्यारों के प्राण न ले कर इन्होंने बड़ी भूल की···धरती का भार तो कम हो गया होता ।

कनिष्क—तुम छोड़ दिये जाते हो वीरसेन···पर तुम अब यहाँ न रह सकोगे ।

वीरसेन—तब मुझे निर्वासन का दण्ड मिल रहा है ?

कौमुदी—अब फिर कोई तुम्हें दास तो न कह पायेगा ।

वीरसेन—दास वह है जो अपनी प्रवृत्ति न रोके···जो अपने हृदय पर अधिकार न रख सके···(अंगारक की ओर देखता है)

अंगारक—चलो बाहर···यहाँ से निकलो···तब समझूँ ।

कौमुदी—अर्थात् इस मथुरा में देवपुत्र कनिष्क का नहीं···कुमार अंगारक का शासन है ।

वीरसेन—(हँस कर) मन्दिर में···मेरे असावधान रहने पर तुम्हारा मनोरथ नहीं पूरा हुआ···तो अब क्या होगा ?

कौमुदी—यहाँ से लौट कर क्या करोगे नाग युवक ?

वीरसेन—(हाथ जोड़ कर) विन्ध्याचल में अष्टभुजा के सामने संकल्प करूँगा···इस विदेशी राज्य के अन्त के लिए । आज के दिन··· ठीक एक वर्ष बाद मैं लौटूँगा राजपुत्री ! आपके नायक के रूप में

नहीं···विजयी नागराज वीरसेन के रूप में···देवपुत्री तब पुरुषपुर रहेंगी और इस दुर्ग पर भारशिव नागों की पताका फहरायेगी··· भगवान शंकर की पताका।

कौमुदी—हम लोग भी अब शैव हैं।

वीरसेन—देश की प्रजा पर राज्य भर करने के लिए···उसमें मिल जाने के लिए नहीं।

कौमुदी—कर सकोगे यह···

वीरसेन—न कर सका तो फिर आपकी सेवा में आऊँगा। देव-पुत्रों का दास बन कर रहने के लिए।

कौमुदी—वचन भंग तो न करोगे?

वीरसेन—(धीरे स्वर में) नहीं···पर यह यहीं तय हो जाय कि आप के पूर्वी छत्रप अंगारक सैनिकों का वध न करा कर मेरे साथ द्वन्द्व युद्ध करेंगे। हम दो के युद्ध से जय या पराजय निश्चित होगी।

कौमुदी—हाँ···और तुम्हें मार कर ये जब यहाँ आयेंगे···अपने विजयी छत्रप के कण्ठ में मैं जयमाल डालूँगी। बस तुम चले जाओ अब···आज का दिन न भूले। मैं पुरुषपुर न जाऊँगी। इस धरती पर जन्म लेने का अधिकार मैं न छोड़ूँगी। राज्य और दुर्ग जो तुमने जीत भी लिया फिर भी तीन हाथ धरती तो किसी कोने में मुझे दोगे ही।

वीरसेन—(अंगारक की ओर देख कर) भूलना मत अंगारक! गंगा की रेती में हम दोनों का द्वन्द्व होगा। ज़ब से गंगा की धारा पर तुम्हारा अधिकार हुआ···अन्तर्वेद के पितर स्वर्ग नहीं जा सके। उस धारा को स्वतन्त्र करना है मुझे···जिसमें पूर्वजों का संकट टले।

कौमुदी—(विस्मय में) जाओ नाग! ऐसा करो···तुम्हारे पूर्वज

स्वर्ग तो पा सकें।

वीरसेन—जय हो देवी! कुमार कनिष्क मुझे भूल न जायेंगे। आपके साथ कोई विश्वासघात मैंने नहीं किया और अब जो करना है वह भी आप सुन चुके।

[हाथ जोड़ कर वीरसेन का प्रस्थान]

कनिष्क—अंगारक! तुम भी जाओ। तुम्हारे बल पर ही हमारा राज्य अब पूर्व में रहेगा।

अंगारक—(कौमुदी की ओर देख कर) क्या देवपुत्री मेरी विजय चाहेंगी?

कौमुदी—इसका उत्तर विजय के बाद ही लेना कुमार!

[अंगारक का प्रस्थान]

कनिष्क—तब अंगारक सच कह रहा था बहन!

कौमुदी—यह नाग युवक अजेय है कुमार! कोई कुमारी अब तक इसे न जीत सकी…मैं भी नहीं। अंगारक जब मुझे न पा सका… लाख चेष्टा पर भी…तब उसने मेरा द्रोह इस नाग युवक पर निकालना चाहा। आज मन्दिर में उसका वध होता…पर जब वह बच गया… इस दूसरे जन्म में…

कनिष्क—हाँ…क्या…

कौमुदी—(गंभीर स्वर में) कुछ नहीं…देखें नाग युवक बात का धनी है कि नहीं…एक वर्ष बाद आज ही के दिन…

[कनिष्क विस्मय में उसकी ओर देखता है। नन्दिनी का प्रवेश]

[पर्दा गिरता है]

दूसरा अंक

[विन्ध्याचल पर अष्टभुजा का मन्दिर । दोनों ओर विन्ध्यमेखला का दिगन्तव्यापी विस्तार। मन्दिर के शिखर पर सोने के दंड में ध्वजा फहरा रही है। मन्दिर के भीतर मन्त्रोच्चार और हवन की विधि पाँच पुरोहित बैठे कर रहे हैं। हवन के स्वाहा के साथ ही शंख की ध्वनि पर्वत में टकरा कर देर तक गूँजती रहती है। अष्टभुजा की मूर्ति के सामने वीरासन में वीरसेन बैठा है। उसके सारे शरीर पर हवनकुंड का भस्म चढ़ा है। मन्दिर के बाहर कन्धे में धनुष, एक हाथ में खड्ग और दूसरे में भाला लिये कई सैनिक मन्दिर की ओर श्रद्धा और विश्वास से देख रहे हैं। हाथियों की गर्जना एक ही साथ कई जगहों में सुनाई पड़ती है। घोड़ों का हींसना और सेना का हर्षनाद सब ओर गूँज रहा है। आकाश में पत्ती उड़ रहे हैं।]

एक सैनिक—(मन्दिर के आगे खड़ा हो कर) *यह पूजा कब तक चलेगी ? शत्रु की दोनों सेनायें मिल न जायँ !*

दूसरा सैनिक—भगवती का प्रसाद ले कर चलो˙˙˙दो क्या सात सेनायें भी हमारे गजयूथ की चपेट में पिस जायेंगी।

पहला सैनिक—सुनते हैं शत्रु की सेना में काश्मीर और गान्धार के कुभा पार उद्यान के˙˙˙सैनिक जुटे हैं।

दूसरा सैनिक—डर रहे हो˙˙˙

पहला—अपमान कर रहे हो तुम मेरा अघोर भट्ट ! कायर हूँ मैं ?

अघोर भट्ट—हँसी में न बिगड़ो रुद्रसेन ! मैं जानता हूँ शत्रु का

आलिंगन तुम्हें प्रिया के आलिंगन का आनन्द देता है।

रुद्रसेन—शत्रुसेना में कुल कितने हाथी हैं ?

अघोर भट्ट—चाहे जितने हों···हमारा एक हाथी उनके दस को दबा देगा। विन्ध्यमेखला में विचरने वाले हाथी और बराबर गंगा के जल में विहार करने वाले···हाथी नहीं काले पर्वत हैं।

रुद्रसेन—फिर भी शत्रु की शक्ति को कभी कम न मानो। सुनो वीरसेन क्या कह रहे हैं।

वीरसेन—(मन्दिर के भीतर से) इस बार अन्तर्वेद से विदेशी कृपाणों को बाहर करो भवानी! गंगा की धारा इन यवनों के स्पर्श से मुक्त हो।

प्रधान पुजारी—महामाया प्रसन्न हैं वीर···तुम्हारी विजय होगी। देखो आहुति की लपटें हँस रही हैं···धूम दायें हो कर उठ रहा है।

वीरसेन—भगवती के प्रसाद और आपके आशीर्वाद का बल है। दास कृतार्थ है आज···

प्रधान पुजारी—उठो। सेनापति पुष्यमित्र के बाद देश को कर्म और विजय का मन्त्र देने वाले तुम हमारे राम हो, कृष्ण हो, अर्जुन हो। इन्द्र, मरुत, वरुण और अग्नि की शक्ति तुम्हारे साथ है। शंकर का तेज तुम्हारे ललाट में और महामाया की प्रेरणा तुम्हारी भुजाओं में है। उठो इस पचासी वर्ष की आयु में अब तक तुमसे यशस्वी मस्तक मेरे चरणों में नहीं पड़ा था। मेरे पूर्व जन्मों के पुण्य उदय हुए हैं।

वीरसेन—अपने मुँह से कहें देश का बन्धन कटे···

कई कण्ठ—तथास्तु···

वीरसेन—गंगा की धार मुक्त हो और पूर्वजों का पुण्य बढ़े...

कई कण्ठ—तथास्तु...

[प्रधान पुजारी के साथ वीरसेन मन्दिर के आगे निकलता है]

कई सैनिक—नागराज वीरसेन की जय।

[यही ध्वनि दूर पर्वतों की ओर से भी निकलती है]

वीरसेन—भगवती विन्ध्यवासिनी की जय बोलो भाइयो! भगवान शंकर की...भवानी के उपासक भैरवीसिद्ध की जय बोलो...अपने पुजारी की।

कई सैनिक—भगवती विन्ध्यवासिनी की जय...भगवान भूतनाथ की जय...पुजारी भैरवीसिद्ध की जय...जय...जय...

वीरसेन—(एक सैनिक को संकेत से बुला कर) तुम्हारी प्रतिज्ञा क्या है महावीर?

महावीर—जो विना सौ को मारे मरूँ तो दूसरे जन्म में पुरुष नहीं स्त्री...यह भी नहीं महाराज क्लीव बनूँ।

वीरसेन—(दूसरे सैनिक से) और तुम्हारी जयन्त?

जयन्त—(ऊपर सूर्य की ओर संकेत कर) युद्ध में मैं सूर्य की तरह जिधर घूम पड़ूँ अन्धकार से शत्रु भाग चलें और जब मरूँ मेरा तेज सूर्य के पिण्ड में समा जाय।

वीरसेन—अघोर भट्ट, जिन भुजाओं से तुम जीवित सिंह को पछाड़ देते हो आज उनका संकल्प क्या है?

अघोर भट्ट—(धरती से ऊपर उछल कर) महाराघव जैसे समुद्र फाड़ता चलता है मैं भी शत्रु सेना को बीच से चीर कर राजमार्ग बनाऊँगा और उस मार्ग पर आप का रथ चलेगा। स्वर्ग और मृत्यु

की बात मैं सोचता भी नहीं। जब तक विदेशी सिन्धु के पार पुरुषपुर से नहीं भागते मुझे स्वर्ग न चाहिये। ...

वीरसेन—(हँस कर) और तुम रुद्रसेन ?

रुद्रसेन—शत्रु के खड्ग मेरे लिए प्रिया की बाँहें बनेंगे और उनके रक्त से मैं अपना अभिषेक करूँगा।

[दो सिपाहियों का दौड़ते हुए प्रवेश]

वीरसेन—क्या है ?

दोनों—शत्रु आ गये...

वीरसेन—धीरज धरो...आ गये तो कोई बात नहीं...कहाँ हैं वे ?

दोनों—चरणाद्रि के पश्चिम वे गंगा पार कर रहे हैं...हाथियों से गंगा का जल छिप गया है। नावों की संख्या सो से ऊपर है।

वीरसेन—कोई बात नहीं...

अघोर भट्ट—कूट युद्ध...धोखा और छल में शत्रु निपुण हैं। आज्ञा दें मै अपने गजयूथ को ले कर रोकूँ उन्हें।

वीरसेन—तुम्हारे दल में कितने हाथी हैं भद्र ?

अघोर भट्ट—कन्तिपुरी के सभी हाथी...हथिनियाँ वज्रनाभ के साथ हैं।

वीरसेन—धान खिला दिया गया उन्हें ?

अघोर भट्ट—हाँ...और अब उन्हें घृत आसव दिया जा रहा है। मस्तक और सूँड पर टोप और जाली चढ़ाई जा रही है।

[वज्रसेन का प्रवेश। वज्रसेन की आयु प्रायः पच्चीस वर्ष...टेढ़ी मूँछें...आँखें रतनार, ललाट पर त्रिपुण्ड, दायें हाथ में खुला खड्ग और बायें कन्धे में धनुष। वृद्ध पुजारी बढ़ कर उसे भस्म का टीका देता है।]

वज्रसेन—प्रणाम महाराज···कहिये भवानी की पूजा हो गई ?

भैरवी सिद्ध—हो गई पुत्रक···मन्दिर में जा कर देवी को प्रणाम करो। तुम्हारी बाँहों पर आज उनका आसन रहेगा।

वज्रसेन—(गद्‌गद हो कर) बस देवी की इतनी कृपा हो फिर तो···(भावावेश में काँप उठता है)

वीरसेन—पहले देवी के सामने सिर तो टेको।

वज्रसेन—(मन्दिर की ओर बढ़ता हुआ) मेरी बाँहों में आज भवानी का वास है। हा···हा···हा···

वीरसेन—इसे तो आज देख कर डर लगता है।

भैरवी सिद्ध—तीन दिन और तीन रात एक आसन पर बैठ कर देवी का अनुष्ठान जो करते रहे हैं।

वज्रसेन—(मन्दिर के भीतर से) भक्त की भुजाओं में आज वास करो भवानी···

[मन्द ध्वनि जो सुनाई नहीं पड़ती। पुजारी मुसकरा रहे हैं और सब विस्मय में मन्दिर की ओर कान लगाये हैं। हँसी और गिरने की ध्वनि। भैरवी सिद्ध वेग से मन्दिर में प्रवेश कर दुर्गा के बीज मंत्र का उच्चारण करता है।]

वीरसेन—(मन्दिर के द्वार से) ऐं यह क्या···? (स्वर भारी हो उठता है)

भैरवी सिद्ध—निर्भय रहो। भवानी का तेज वज्रसेन के लिए असह्य हो उठा···मूर्छा अभी टूटती है और तब···देखें तब के और अब के वज्रसेन में कितना अन्तर है। अंशरूप से भवानी इनकी देह में प्रवेश कर गईं। भारशिव नाग आज धन्य हुए। उनका सेनापति देवी के

अंश विक्रम से लड़ेगा।

वज्रसेन—(जैसे जाग कर) मैं कहाँ हूँ ?

भैरवीसिद्ध—यहीं पुत्रक ! भगवती की मूर्ति के आगे।

वज्रसेन—कैलाश के शिखर पर जहाँ किरणें सोने के रंग में चमक रही थीं···

भैरवीसिद्ध—(हँस कर) तुम्हें महामाया के दर्शन मिले ?

वज्रसेन—(मन्त्रमुग्ध सा) सोने के मन्दिर में भवानी रत्न के सिंहासन पर बैठी थीं। उनके मुख से जो तेज निकल रहा था वह सूर्य के तेज से अधिक था। अपने हाथ से उन्होंने जो तरल तत्त्व मुझे पिलाया···उसका स्वाद उसकी गन्ध कैसे कहूँ मैं···

भैरवीसिद्ध—(हँस कर) भावलोक का रस और गन्ध इस धरती पर नहीं मिलता पुत्रक ! उठो भवानी का प्रसाद लो···शत्रु आ रहे हैं···और उन्हें इस तरह उड़ाओ—जैसे आँधी रुई उड़ाती है। हाँ··· लो यह प्रसाद···

वज्रसेन—(आनन्द में एक पैर पर घूम कर) अब तो मेरा अनुष्ठान पूर्ण है महाराज···!

भैरवी सिद्ध—हाँ पुत्रक ! लो यह शंख फूँको···तुम्हारी विजय है।

वज्रसेन—(शंख फूँक कर) नागराज···तुम यहीं रहो···मैं शत्रुओं के सामने जा रहा हूँ।

वीरसेन—बाहर आओ अब।

वज्रसेन—(बाहर निकलता है। उसकी आकृति पर अपूर्व तेज और शान्ति है।) अंगारक गंगा के दक्षिण आ गया। पूर्व की सेना उसके साथ है···पश्चिम की भी आ जायेगी। दो सेनाओं के मिलने

के पहले मैं उसे···

वीरसेन—अंगारक से जूझना चाहते हो ?

वज्रसेन—हाँ···सारी देह में विजली दौड़ रही है···कैसे रोकूँ इसे···(आकृति पर अजेय तेज।)

वीरसेन—(भैरवीसिद्ध को हाथ जोड़ कर) महाराज···आप तव तक विश्राम करें। युद्ध भूमि की सूचना लेते रहिये···भगवती को सुना कर···

भैरवीसिद्ध—पचास वर्ष का जीवन गंगा और अष्टभुजा के मन्दिर के बीच में बीता है। आज कुछ बड़ा संसार देखना है मुझे भी··· भगवती मुझे भी युद्ध में भेज रही हैं वीरसेन ! पचास वर्ष के बाद इस हाथ में आज फिर खड्ग आयेगा।

वीरसेन—(विस्मय में) तो आप भी युद्ध करेंगे ?

भैरवीसिद्ध—यह नहीं जानता मैं···भगवती भेज रही हैं मुझे वहाँ···जब जो करना पड़े मैं नहीं जानता···

वज्रसेन—हा···हा···हा···(भयानक हँसी) तव मेरी बाँहें क्या करेंगी ? दस सहस्त्र नाग सेना···हमारे तीन सौ हाथी···इतने रथ, क्या करेंगे जो आप इस आयु में···हिमालय शिखर से श्वेत केश ले कर युद्ध में जायेंगे।

भैरवीसिद्ध—पचास वर्ष पहले···(सिर हिला कर) नहीं सत्तर हो रहे हैं···तीन पीढ़ी देखते-देखते निकल गईं···(कुछ सोचने लगते हैं)

वीरसेन—तव क्या हुआ महाराज···

भैरवीसिद्ध—विजयी कनिष्क ने जब काशी पर धावा किया··· चौदह वर्ष की आयु में मैं उसके विरुद्ध···काशी मण्डल के वीरों के

अंश विक्रम से लड़ेगा।

वज्रसेन—(जैसे जाग कर) मैं कहाँ हूँ ?

भैरवीसिद्ध—यहीं पुत्रक ! भगवती की मूर्ति के आगे।

वज्रसेन—कैलाश के शिखर पर जहाँ किरणें सोने के रंग में चमक रही थीं…

भैरवीसिद्ध—(हँस कर) तुम्हें महामाया के दर्शन मिले ?

वज्रसेन—(मन्त्रमुग्ध सा) सोने के मन्दिर में भवानी रत्न के सिंहासन पर बैठी थीं। उनके मुख से जो तेज निकल रहा था वह सूर्य के तेज से अधिक था। अपने हाथ से उन्होंने जो तरल तत्त्व मुझे पिलाया…उसका स्वाद उसकी गन्ध कैसे कहूँ मैं…

भैरवीसिद्ध—(हँस कर) भावलोक का रस और गन्ध इस धरती पर नहीं मिलता पुत्रक ! उठो भवानी का प्रसाद लो…शत्रु आ रहे हैं…और उन्हें इस तरह उड़ाओ—जैसे आँधी रुई उड़ाती है। हाँ… लो यह प्रसाद…

वज्रसेन—(आनन्द में एक पैर पर घूम कर) अब तो मेरा अनुष्ठान पूर्ण है महाराज…!

भैरवी सिद्ध—हाँ पुत्रक ! लो यह शंख फूँको…तुम्हारी विजय है।

वज्रसेन—(शंख फूँक कर) नागराज…तुम यहीं रहो…मैं शत्रुओं के सामने जा रहा हूँ।

वीरसेन—बाहर आओ, अब।

वज्रसेन—(बाहर निकलता है। उसकी आकृति पर अपूर्व तेज और शान्ति है।) अंगारक गंगा के दक्षिण आ गया। पूर्व की सेना उसके साथ है…पश्चिम की भी आ जायेगी। दो सेनाओं के मिलने

के पहले मैं उसे…

वीरसेन—अंगारक से जूझना चाहते हो ?

वज्रसेन—हाँ…सारी देह में बिजली दौड़ रही है…कैसे रोकूँ इसे…(आकृति पर अजेय तेज ।)

वीरसेन—(भैरवीसिद्ध को हाथ जोड़ कर) महाराज…आप तब तक विश्राम करें । युद्ध भूमि की सूचना लेते रहिये…भगवती को सुना कर…

भैरवीसिद्ध—पचास वर्ष का जीवन गंगा और अष्टभुजा के मन्दिर के बीच में बीता है । आज कुछ बड़ा संसार देखना है. मुझे भी… भगवती मुझे भी युद्ध में भेज रही हैं वीरसेन ! पचास वर्ष के बाद इस हाथ में आज फिर खड्ग आयेगा ।

वीरसेन—(विस्मय में) तो आप भी युद्ध करेंगे ?

भैरवीसिद्ध—यह नहीं जानता मैं…भगवती भेज रही हैं मुझे वहाँ…जब जो करना पड़े मैं नहीं जानता…

वज्रसेन—हा…हा…हा…(भयानक हँसी) तब मेरी बाँहें क्या करेंगी ? दस सहस्र नाग सेना…हमारे तीन सौ हाथी…इतने रथ, क्या करेंगे जो आप इस आयु में…हिमालय शिखर से श्वेत केश ले कर युद्ध में जायेंगे ।

भैरवीसिद्ध—पचास वर्ष पहले…(सिर हिला कर) नहीं सत्तर हो रहे हैं…तीन पीढ़ी देखते-देखते निकल गईं…(कुछ सोचने लगते हैं)

वीरसेन—तब क्या हुआ महाराज…

भैरवीसिद्ध—विजयी कनिष्क ने जब काशी पर धावा किया… चौदह वर्ष की आयु में मैं उसके विरुद्ध…काशी मण्डल के वीरों के

साथ लड़ा था। मेरे खड्ग ने तब धोखा दिया। भवानी वायें हुईं। शिवपुरी पर म्लेच्छ यवनों का राज्य चला। वह खड्ग लिये ही मैं गंगा पार कर भगवती की शरण में आया था। मन्दिर की फेरी में उसे जहाँ रख दिया वहीं आज भी है। उसी को ले कर गंगा के दक्षिण इस युद्ध में जा कर उसका कलंक एक बार धो दूँ...

वज्रसेन—धन्य भगवान !...पर आप मन्दिर केवल प्रातः और सायं...संध्या में ही तो छोड़ते हैं।

भैरवीसिद्ध—आज सारा दिन छोडूँगा। कह दिया तुमसे... भगवती का यही आदेश है। अपने सेवक को वे जब जहाँ रखें। और फिर आज जब वे स्वयं यहाँ न रहेंगी तो फिर मेरा प्रयोजन नहीं है ?

वज्रसेन—आचार्य भैरवी सिद्ध की...जय...जय

[वीरसेन के साथ सभी सैनिक भैरवीसिद्ध की जय बोलते हैं। पर्वत के भीतर सेना भी जय जय कार करती है।]

भैरवीसिद्ध—मैं वह खड्ग ले आऊँ...तब तक सेना को प्रयाण करने का आदेश दो।

[भैरवीसिद्ध का प्रस्थान]

वीरसेन—(सैनिकों से) तुम लोग अपने दल के साथ चलने की तैयारी करो...वज्रसेन ! तुम इधर आओ। (वज्रसेन का हाथ पकड़ कर आगे बढ़ता है। और सभी दूसरी ओर निकल जाते हैं।)

वज्रसेन—हाँ...क्या है ? अब तो अंगारक से जा टकराता...

वीरसेन—पर इस युद्ध में दूसरा कोई नहीं लड़ेगा।

वज्रसेन—(चौंक कर) कोई नहीं लड़ेगा तो युद्ध क्या होगा ? युद्ध न होगा गंगा की रेत उड़ाई जायेगी ?

वीरसेन—कुषाणों के साथ मथुरा के पूर्व यह हमारा अन्तिम संघर्ष है। देवपुत्री के सामने निश्चय हो चुका है...मेरे और अंगारक के बीच द्वन्द्व युद्ध...

वज्रसेन—बस दो के द्वन्द्व में जय पराजय का निर्णय हो जायेगा ?

वीरसेन—हाँ...देवपुत्री के सामने मैंने जो प्रस्ताव किया...यही है।

वज्रसेन—और अंगारक मान गया इसे ?

वीरसेन—देवपुत्री पर उसे अपने बल की धाक जमानी थी...मुझे मार कर ही वह देवपुत्री का वरण कर सकेगा।

वज्रसेन—(सचेत हो कर) यह देवपुत्री कौन ?

वीरसेन—अभी रहने दो...है वह कोई देवपुत्री।

वज्रसेन—समझ में नहीं आ रहा है भद्र !

वीरसेन—देवपुत्र वासुदेव की कन्या...कुमारी कौमुदी...जिसके प्रेम का कवच पहन कर आज मुझे अंगारक से जूझना है...

वज्रसेन—कुषाण राजपुत्री हमारी रानी होगी ?

वीरसेन—यवन राजपुत्री मगध की रानी बनी थी।

वज्रसेन—सच कह रहे हो भद्र ! राजपुत्री अनुरक्त हैं ? तभी मथुरा की ओर आँखें लगी हैं। यह समाचार मैं सेना को सुनाऊँगा। हमारे वीर दूने उत्साह से लड़ेंगे। आचार्य भैरवीसिद्ध से कहना चाहिये।

वीरसेन—(संकोच में) अरे ! अभी नहीं। आचार्य सोचेंगे गंगा की धारा के स्वतन्त्र करने का बहाना हो रहा है उधर देवपुत्री की कामना है।

वज्रसेन—पर बुरा क्या है। शत्रु की कन्या हमारी रानी बने... इससे सुन्दर और क्या होगा ? हमारे इतिहास का कलंक क्या इससे

धुल न जायगा ?

वीरसेन—फिर भी अभी तुम सब नहीं जानते। अभी ठहरो...

वज्रसेन—हा...हा...हा...(उन्मुक्त हँसी) देवपुत्री कौमुदी नाग-वीर की पर्यंकशायिनी हों...इस फल के लिए सच कहता हूँ...कुबेर का भण्डार और इन्द्र का पद भी छोड़ना पड़े तो कोई बात नहीं। गंगा स्नान से सारे पाप धुल जाते हैं...देवपुत्री की बाँह तुम जिस दिन पकड़ोगे...हमारे इतिहास का कलंक धुल जायगा। विन्ध्यमेखला के हर पेड़, हर शिखर से यही ध्वनि गूँजे...गंगा की लहरों में इसी का स्वर हो...कुषाण राजपुत्री विजयी नाग की भार्या बनें।

वीरसेन—देवपुत्री मथुरा को अपनी जन्मभूमि कह कर इसी धरती में अपने जन्म का अधिकार माँगती हैं।

वज्रसेन—पर हमारे वहाँ पहुँचने के पहले ही वे पुरुषपुर चली जायेंगी।

वीरसेन—अपने जन्म का अधिकार छोड़ कर...नहीं...नहीं...वे वचन दे चुकी हैं।

वज्रसेन—तब भगवान भूतनाथ के सामने...उनके मन्दिर में अंगारक ने तुम्हारे वध के लिए जो षड्यन्त्र किया...उसका कारण यही तो नहीं था ?

वीरसेन—(हँस कर) यही था...देवपुत्री के पैरों में अपने हृदय का सारा रस उसने उँडेल दिया...पर उसे प्रसाद नहीं मिला।

वज्रसेन—हूँ...जैसे भस्मासुर को पार्वती का प्रसाद नहीं मिला था।

वीरसेन—हँसी कर रहे हो ?

वज्रसेन—हँसी क्या है इसमें···अंगारक भस्मासुर है और तुम···

वीरसेन—(रोक कर) हाँ···हाँ···हवा में बुद्धि उड़ा रहे हो··· भक्त को भगवान न बनाना।

वज्रसेन—कुमारी कौमुदी का रंग क्या है ?

वीरसेन—प्रातःकाल गौर···दोपहर में पद्मराग और रात को स्वर्णधूलि के रंग का···

वज्रसेन—आँखें···

वीरसेन—नीले कमल सी···

वज्रसेन—नासिका···

वीरसेन—तिल के फूल सी···

वज्रसेन—अधर···

वीरसेन—रहने दो नखशिख वर्णन न पूछो···

वज्रसेन—अधर भर बता दो···अरे ! तुम्हारे ललाट पर पसीने की बूँदें निकल पड़ीं।

वीरसेन—स्मरण करा दिया जो···उन अधरों का···

वज्रसेन—तब ये बूँदें स्मरण के अनुराग की हैं···

वीरसेन—इस विषय की अब कोई नहीं···युद्ध की बात कहो।

वज्रसेन—युद्ध की चिन्ता महामाया का प्रसाद ले कर मुझे नहीं है। कुषाणों की सारी सेना का अन्त मैं आज अकेले कर सकूँगा। हाँ···कहो···

वीरसेन—क्या ?

वज्रसेन—सम्मोहन की किस विधि का प्रयोग किया था ?

वीरसेन—माँगने से मृत्यु भी नहीं मिलती भद्र ! फिर प्रणय तो

मन की सबसे बड़ी कामना है···(सोचने लगता है)

वज्रसेन—कहते चलो···प्यासे के कण्ठ में बूँद-बूँद कर जल डालना हत्या करना है।

वीरसेन—(धीमे स्वर और भाव मुद्रा में) मैंने इस हृदय को वज्र से भी कठोर कर लिया। कुमारियों के संकेत पर हँस भर देता था मैं। देवपुत्री ने कितने बहानों से मुझे अपने निकट रहने का अवसर दिया। जलविहार में नौका के पतवार पर मैं बैठाया गया···पर अंगारक जहाँ उन्हें आँखों से पी जाना चाहता था···मैं निर्लिप्त रहता था। कभी कभी पतवार से कूद कर ऐसी डुबकी लेता था कि देवपुत्री की धड़कन···मेरी मृत्यु की आशंका में बन्द होने लगती थी।

वज्रसेन—है भी यही। रमणी उसी पुरुष पर प्राण देती है जो अपने प्राण की चिन्ता नहीं करता। उसी की ओर आकर्षित होती है जो उसकी अवहेलना करता है। नारी से प्रेम की भीख माँगने वाला कायर होता है···प्रेम का दान नहीं लिया जाता···अपने धैर्य संयम और शील से विवश किया जाता है नारी को अपने चरणों में वह जाने के लिए।

वीरसेन—हिमालय को लाँघना और समुद्र को तैर जाना सुगम होता है···पर कुमारी का हृदय जीतना बिना पंख के आकाश में उड़ना है। पूर्व से हाथियों का गर्जन सुनाई पड़ रहा है।

वज्रसेन—अंगारक की सेना आ रही है। हम लोग अभी सो रहे हैं।

वीरसेन—तुम्हारा अश्व कहाँ है ?

वज्रसेन—(उत्तर की ओर हाथ उठा कर) वहाँ नीचे बँधा है।

वीरसेन—(वस्त्र के नीचे पत्र निकाल कर) हाँ... यह लो... इसे अंगारक को दो... पूछो मेरे साथ द्वन्द्व करेगा या सैनिकों के रक्त से गङ्गा की रेती रँगेगी।

[वज्रसेन पत्र लेता है। भैरवीसिद्ध का प्रवेश। दायें हाथ में भस्म लिपटा खड्ग और सोने के अर्घ्यपात्र में भी भस्म है।]

भैरवीसिद्ध—भवानी के यज्ञकुण्ड का यह भस्म मस्तक पर चढ़ाओ नागवीर... तुम्हें देख कर शत्रु ऐसे भागें जैसे आँधी में मेघ भागते हैं ;

[आगे बढ़ कर पहले वीरसेन के फिर वज्रसेन के मस्तक पर भस्म का त्रिपुंड लगाते हैं।]

वीरसेन—यही वह खड्ग है आचार्य !

भैरवीसिद्ध—हाँ पुत्र... भवानी के यज्ञकुण्ड में डाल कर इसका कलंक भस्म करता रहा हूँ।

वीरसेन—इस समय आपका खड्ग अवधूत बन गया है भस्म लपेट कर... देखूँ... (भैरवीसिद्ध के हाथ से खड्ग ले कर अँगूठे से मध्यमिका उँगली दबा कर ठोंकता है, फिर उसे झुका कर देखता है) यह खड्ग कभी टूट नहीं सकता। आज भी इससे सोने की ध्वनि निकल रही है। ऐसे अच्छे आयस का खड्ग मैंने पहले कभी नहीं देखा।

भैरवीसिद्ध—स्वर्गीय पिता यह खड्ग विदिशा से ले आये थे।

वीरसेन—तभी तो... कौन जाने यह कभी सेनापति पुष्यमित्र अग्निमित्र वसुमित्र के हाथ में रहा हो। यह खड्ग जो अपने से अपना इतिहास कह पाता...

वीरसेन—संकल्प करता हूँ आचार्य ! देवपुत्री और कुमार कनिष्क के सामने मथुरा के दुर्ग में भी मैंने एक संकल्प किया है।

भैरवीसिद्ध—वह क्या...

वीरसेन—काशी में गंगा के तीर पर अश्वमेध यज्ञ करूँगा। और यज्ञ के अन्त में वहीं गंगा के जल में मेरा अवभृथ स्नान होगा।

भैरवीसिद्ध—देवपुत्री कौमुदी के साथ...जब वे तुम्हारी धर्म से गृहीत भार्या हो चुकी होंगी...परस्पर वस्त्र की गाँठ बाँध कर तुम दोनों एक साथ ही वह स्नान करोगे। भगीरथ गंगा की धार धरती पर ले आये थे केवल अपने पूर्वजों की मुक्ति के लिए...तुम गंगा की धार मुक्त करोगे देश भर के...समूचे अन्तर्वेद के पितरों की मुक्ति के लिए।

वीरसेन—तो आप भी मानते हैं जब तक कुषाणों से गंगा की धारा मुक्त न हो अन्तर्वेद के पितर स्वर्ग नहीं पा सकते।

भैरवीसिद्ध—सारे देश के नर नारी, पण्डित, तपस्वी सभी मानते हैं यह कि पूर्वजों का देश जब तक स्वतन्त्र न हो...जन्मभूमि के बन्धन जब तक न कटें, गंगा की धारा जब तक विदेशियों के अधिकार से मुक्त न हो...हमारे पितर नहीं तरेंगे।

वीरसेन—(उत्साह में) होगा आचार्य ! यह हो कर रहेगा।

भैरवीसिद्ध—अहा ! विजयी कनिष्क के राजकुल की कन्या जिस दिन तुम्हारी पत्नी के रूप में भगवती विन्ध्यवासिनी के दर्शन करेगी... मेरे इसी हाथ से प्रसाद लेगी...अपने इस जन्म को मैं सफल मानूँगा।

वीरसेन—(भैरवीसिद्ध के चरण पर मस्तक रख कर) आपके पुण्य से...भवानी की कृपा से...

भैरवीसिद्ध—तुम्हारे पराक्रम और भाग्य से भी...काशी पर जब

यवनों का अधिकार हुआ···वीर तब भी थे···पर वीरसेन नहीं थे। एक भी होता···कोई प्रजा में उत्साह भर पाता···तब तो···उठो तुम्हारा मनोरथ पूरा होगा। (दोनों हाथों से उठा कर छाती से लगाना और सिर सूँघना)—

वीरसेन—सात दिन की अवधि और है।

भैरवीसिद्ध—किस बात की ?

वीरसेन—देवपुत्री को वचन दिया था मैंने···वर्ष के अन्त में विजयी नागराज के रूप में मथुरा में प्रवेश करने का···

भैरवीसिद्ध—पर जब तुम्हारी सेना मथुरा पर चढ़ेगी···कुषाण भाग जायेंगे पश्चिम पुरुषपुर, कुण्डलवन या कनिष्कपुर···मथुरा में देवपुत्री भी न रहेंगी।

वीरसेन—कहती हैं···मथुरा उनकी जन्मभूमि है। राज्य चाहे उनका न रहे···पर जन्मभूमि का अधिकार उनसे कौन छीनेगा ?

भैरवीसिद्ध—तब कहो देवपुत्री शंकर की पार्वती हैं। पूछना तो न चाहिये पर जैसे उनके साथ तुम्हारा पूर्व अनुराग भी है।

वीरसेन—बौना चन्द्रमा नहीं छूता···अनुराग हो कर भी क्या करेगा जो मैं उनके योग्य न बनूँ ?

भैरवीसिद्ध—अंगारक को हराना तुम्हारी वह योग्यता होगी ?

वीरसेन—जी···देवपुत्री के सामने ही यह निर्णय हो चुका है।

भैरवीसिद्ध—तब केवल राजनीति में नहीं···प्रणय में भी वह तुम्हारा प्रतिद्वन्द्वी है ?

वीरसेन—हाँ आचार्य ! प्रणय के प्रतिद्वन्द्वी आज राजनीति के भी प्रतिद्वन्द्वी हैं। इस सत्य को अभी कुल चार जन जानते हैं···

आप, देवपुत्री, अंगारक और यह दास ।

भैरवीसिद्ध—भारशिव नागों के इन्द्र हो तुम···दास न बनो ।

वीरसेन—इन्द्र भी तो देवगुरु के दास ही हैं । भगवती के प्रसाद से जो मेरी विजय हुई···

भैरवीसिद्ध—हैं···तुम्हें सन्देह है अभी इसमें···देखो यह मन्दिर की पताका दायें हिल रही है । आकाश में पक्षी तुम्हारी सेना के आगे उड़ रहे हैं···विन्ध्यमेखला अपना आनन्द आकाश में बिखेर रही है । सब कहीं उत्साह के चिह्न हैं । अंगारक की सेना के ऊपर (हाथ उठा कर) वह बादल का खण्ड है···तुम्हारी ओर सूर्यदेव हँस रहे हैं ।

वीरसेन—तब मेरी एक प्रार्थना है ।

भैरवीसिद्ध—कहो···क्या है मेरे पास जो मैं तुम्हें न दूँ !

वीरसेन—देवपुत्री के विवाह में आप प्रधान पुरोहित होंगे ।

भैरवीसिद्ध—(हँस कर) और तुम्हारे···अकेली देवपुत्री का विवाह होगा ?

वीरसेन—मुझे यही कहना चाहिये ।

भैरवीसिद्ध—विजय की गति बराबर विनय के पीछे है । तुम न कहोगे यह तो दूसरा कौन कहेगा ? इस भाग्योदय का भार भी तुम्हीं सह सकोगे पुत्र···कोई भी दूसरा इससे दब कर मर जायेगा ।

वीरसेन—और दूसरी प्रार्थना है···काशी के अश्वमेध में भी आप प्रधान पुरोहित···

भैरवीसिद्ध—तुम्हारी कोई बात मैं नहीं टालूँगा···पर वहाँ की शोभा होगी यदि विश्वनाथ के भक्त भूतनाथ तुम्हारे पुरोहित बनें ।

वीरसेन—फिर उसके बाद आप मेरा मन्त्रिपद स्वीकार करेंगे ।

भैरवीसिद्ध—इस आयु में'''शास्त्र में इसका निषेध है। मन्त्री भी बुद्धि और शरीर दोनों का पुष्ट होना चाहिये। वेद वेदाङ्ग धर्मशास्त्र के साथ शस्त्रचर्या भी'''

वीरसेन—इतने दिन साथ रह कर मैं देख चुका हूँ कि आप में सभी गुण हैं।

भैरवीसिद्ध—देखो भाई! बन्धन में न डालो मुझे'''यों एक दिन के लिए मैं तुम्हारा मन्त्री भी बन जाऊँगा। यज्ञ के अन्तिम दिन''' अवभृथ स्नान के समय। गाँठ बाँध कर नागदम्पति जब जल में प्रवेश करेंगे मैं मन्त्री के रूप में अक्षत और फूल की वर्षा करूँगा केवल इस एक फल के लिए मैं तुम्हारा मन्त्री बनूँगा?

[एक ही साथ कई शंख बज उठते हैं]

वीरसेन—(झुक कर पुजारी का चरण छू कर) अब आशीर्वाद दीजिए'''मैं चलूँ।

भैरवीसिद्ध—(सिर पर हाथ रख कर) तुम्हारी विजय हो!

दृश्य परिवर्तन

[गंगा की रेती में अंगारक की सेना। हाथियों का समूह कुछ गंगा के जल में और कुछ रेती में देख पड़ता है। शिविर खड़े किये जा रहे हैं। सब ओर सैनिकों का कोलाहल, दौड़ धूप मच रही है। सैनिक उत्साह में भाले उछाल रहे हैं। एक ओर से घोड़े पर वज्रसेन और दूसरी ओर से घोड़े पर अंगारक का प्रवेश। अंगारक के साथ एक और सशस्त्र अश्वारोही है। अंगारक का मुकुट राजचिह्न अंकित सोने और रत्नों से जगमगा रहा है। वज्रसेन की ओर वह कड़ी आँखों से देखता है।]

अंगारक—(वज्रसेन को संकेत कर) कौन हो तुम सैनिक ? तुम बड़े निडर देख पड़ते हो।

वज्रसेन—मैं राजदूत हूँ···राजदूत को निडर रहना ही होता है। (मुसकराता है)

अंगारक—किस राजा के दूत हो तुम···?

वज्रसेन—नागराज वीरसेन का···

अंगारक—(साथ के अश्वारोही को लक्ष्य कर) हा···हां···हा···हा···सुन रहे हो टंकरण···नागराज वीरसेन का···साहसिक दास अब राजा बन गया !

वज्रसेन—और तुम कौन हो जो व्यवहार में अभद्र और राजनीति में कोरे हो ? मुझे छत्रप अंगारक से मिलना है।

अंगारक—(अपने मुकुट पर हाथ रख कर) व्यवहार और नीति समान से सीखी जाती है दूत ! हीन से नहीं। कैसे भोंदू हो तुम···इस मुकुट को भी नहीं पहचानते ?

वज्रसेन—तो श्रीमान् छत्रप अंगारक हैं···

अंगारक—अपने मुँह से कहूँ मैं···

वज्रसेन—जैसे अब आप को राजनीति का स्मरण हो रहा है।

अंगारक—तुम अपना प्रयोजन कहो···

वज्रसेन—किससे कहूँ···

अंगारक—जिससे कहने आये हो···

वज्रसेन—पहले उसे जान तो लूँ···

टंकरण—क्यों बात बढ़ा रहे हो दूत···छत्रप अंगारक यही हैं।

वज्रसेन—(पत्र निकाल कर देते हुए) छत्रप के लिए यह पत्र है।

अंगारक—(पत्र लेकर) हा···हा···अब बुद्धि ठिकाने आई··· सन्धि के लिए भेजा है···कह दो अपने हाथी मुझे दे दे···और सेना भंग कर दे।

वज्रसेन—पत्र तो पढ़ लें श्रीमान्···राजाओं में सन्धि भी होती है···कोई नई बात नहीं है यह···।

[अंगारक दाँत में लगाम पकड़ कर पत्र पढ़ता है। विचलित हो कर पत्र फाड़ कर फेंक देता है।]

वज्रसेन—(मुसकरा कर) कोई लगने वाली बात थी···जिसे श्रीमान् न सह सके ? मेरे सामने पत्र फाड़ कर फेंक देना नीति-विरुद्ध है।

अंगारक—(सम्हल कर) कह दिया···तुमसे नीति नहीं सीखनी है मुझे···वीरसेन देवपुत्र की सेना में नायक रह चुका है मेरे अधीन···

वज्रसेन—सूर्य रात भर छिपा था तो···क्या इस समय दिन में भी उसकी उपेक्षा होगी ?

अंगारक—उत्तेजित मत करो दूत मुझे तुम···हमारी सेना आज यहीं विश्राम करेगी कल सवेरे से युद्ध होगा।

वज्रसेन—जिसमें पश्चिम की सेना भी आ जाय ?

अंगारक—हाँ···

वज्रसेन—और कुछ नहीं था पत्र में ?

अंगारक—द्वन्द्व युद्ध की बात थी···पर मेरे सैनिकों की बाँहें भी फड़क रही हैं।

वज्रसेन—विन्ध्यवासिनी के सेवक उन बाँहों को काट कर फेंक देंगे।

अंगारक—हा···हा···हा···हा···कहाँ थीं तुम्हारी विन्ध्यवासिनी जब देवपुत्रों ने इस देश को जीत कर उनके शिखर पर ध्वजा गाड़ी थी ?

वज्रसेन—उनके सेवक सो गये थे···अब वे जागे हैं।

अंगारक—इतनी लम्बी नींद के बाद···तुम लोग उस राक्षस कुम्भकरण के देश के तो नहीं हो जो छः महीने सोता था ?

वज्रसेन—हम भगवान रामचन्द्र के वंश के हैं जिन्होंने उस राक्षस का वध किया था।

अंगारक—हा···हा···वंश राम का और नींद राक्षस की···

वज्रसेन—तुम्हारे अहंकार की सीमा नहीं है छत्रप! तुम यह नहीं देखते कि नित्य उदय हो कर भी सूर्य डूबता है···उस पर ग्रहण भी लगता है···वह हमारे ग्रहण का दिन था···अब नया उदय है।

अंगारक—(उपहास में) कब से ?

वज्रसेन—जिस क्षण शिव के मन्दिर में ध्यानस्थ नागराज पर तुम्हारे दस्यु आघात कर रहे थे···यहाँ भवानी की मूर्ति हिली थी। युगों की बन्द आँखें तभी खुली थीं छत्रप!

अंगारक—कोई बात नहीं···मेरी सेनायें आ लें···

वज्रसेन—मथुरा दुर्ग में देवपुत्री के सामने का निर्णय न भूलें। द्वन्द्व युद्ध में सेना क्या करेगी ?

अंगारक—उसने यह सब तुमसे कह दिया···

वज्रसेन—वीरसेन झूठ नहीं बोलते और बन्धुओं से कभी कुछ छिपाते नहीं। राग और रण दोनों उनके लिए समान हैं। उनके शस्त्र कभी छिप कर नहीं चलते। उनके हृदय का अनुराग भी छिपा

नहीं रहता।

अंगारक—इस उद्धत ने देवपुत्री के अपमान की बातें भी तुम से कह दीं?

वज्रसेन—देवपुत्री की उपासना वे निष्ठ मन से करते हैं···अपमान वह करता होगा जो उनके प्रणय को राजनीति के पासे पर रख देता होगा।

अंगारक—(झिझक कर) स्वीकार है मुझे वीरसेन के साथ द्वन्द्व युद्ध···यहीं दोनों सेनाओं के बीच में युद्ध होगा···किसी पक्ष का एक भी सैनिक आगे न बढ़ेगा। भेजो वीरसेन को···तब तक मैं अपने सैनिकों से कह दूँ।

वज्रसेन—आ गई हमारी सेना भी···जो शङ्ख विन्ध्यवासिनी के मन्दिर में बजता था···हमारी सेना के आगे बज रहा है। देख लो क्षत्रप! तुम्हारा प्रतिद्वन्द्वी नागवीर आ गया।

अंगारक—सारी देह में भस्म लपेटे वह वृद्ध कौन है?

वज्रसेन—(उत्साह में हँस कर) जिनके हाथ में शङ्ख है···श्वेत जटा और दाढ़ी वाले···

अंगारक—(विस्मय में) हाँ···वही।

वज्रसेन—वे हमारे आचार्य···विन्ध्यवासिनी के सेवक भैरवी सिद्ध हैं।

अंगारक—तब कहो यह तुम्हारी सेना नहीं शङ्कर की बरात है।

वज्रसेन—और क्या···विदेशियों का संहार कर काशी और गङ्गा दोनों को यह बरात मुक्त करेगी।

अंगारक—देख लेंगे अभी···इसी जगह वीरसेन रुकें···मैं अभी आया।

[अंगारक और टंकण का प्रस्थान। भैरवीसिद्ध, वीरसेन, अघोरभट्ट, रुद्रसेन और कई दूसरे सैनिकों का प्रवेश। भैरवीसिद्ध शंख की भयानक ध्वनि करता है।]

वीरसेन—(नीचे गिरे पत्र के टुकड़ों को देख कर) मेरा पत्र फाड़ कर फेंक दिया उसने। तब द्वन्द्व युद्ध नहीं करेगा ?

वज्रसेन—करेगा। कह गया है आप को अकेले यहीं रुकने के लिए···अपने सैनिकों को सूचित कर वह अभी लौटेगा। दोनों सेनाओं के बीच में यहीं द्वन्द्व होगा। किसी पक्ष का एक भी सैनिक आगे नहीं बढ़ेगा।

भैरवीसिद्ध—पूजा के समय मन्दिर में जो आघात कर सकता है, उसकी बात का विश्वास हम कैसे करेंगे ?

अघोर भट्ट—कभी नहीं आचार्य !···वह फिर धोखा करेगा।

वज्रसेन—हम लोग सजग रहेंगे···जितने सैनिक उसकी सेना के आगे बढ़ेंगे उतने हम भी बढ़ेंगे। पर द्वन्द्व के नियमों का पालन तो करना ही है।

रुद्रसेन—क्या सुन रहा हूँ मैं···हम लोग नहीं लड़ेंगे ? सेना नहीं लड़ेगी ?

वीरसेन—हाँ भद्र···मेरे और अंगारक के द्वन्द्व पर ही इस बार की हार जीत निर्भर है।

रुद्रसेन—और भगवती के सामने जो शपथ ली गई···सौ को मार कर मरेंगे।

वीरसेन—सैनिकों के रक्त से गंगा का जल क्यों दूषित हो।

रुद्रसेन—गंगा का जल शत्रुओं के रक्त से पवित्र होगा। अत्यन्त दस्यु जो यहाँ आ गये···जीवित न लौटें···जन्मभूमि के मान में, देश के धर्म की रक्षा में, नागराज की कीर्ति में पहले हम मरें। मरने का यह सुयोग भाग्य से मिला है।

[सैनिकों में कोलाहल]

वीरसेन—आप लोग सुन लें···

कई स्वर—चुप रहो···सुनो नागराज क्या कहते हैं।

वीरसेन—देवपुत्र वासुदेव की पुत्री कुमारी कौमुदी के सामने हम दोनों द्वन्द्व युद्ध के लिए प्रतिश्रुत हैं। भगवती के प्रसाद से जो अंगारक मरा तो हम सीधे मथुरा चलेंगे। वहाँ यमुना में विदेशी कुषाण सेना को बोर कर दुर्ग पर अधिकार करेंगे···फिर सिन्धु पार पुरुषपुर तक···आपको उद्यान के, कुभा पार के वीरों से लड़ना पड़ेगा।

कई स्वर—(खेद में) युद्ध का अधिकार नागराज अकेले अपने लिए ले रहे हैं···

भैरवीसिद्ध—अंगारक आ रहा है घोड़े पर···तुम लोग अपनी पाँत में लौटो···वह अकेले आ रहा है। वीरसेन···

वीरसेन—कृपा रहे आचार्य!···मैं देख लूँगा इसे···सब लोग पीछे अपनी पाँत में चले जायँ।

भैरवीसिद्ध—मेरा खड्ग देना वज्रसेन···तुम्हारे शस्त्र तुम्हारे हाथी पर आये हैं।

वज्रसेन—हाँ यह लीजिये महाराज···तब तक मैं अपनी सेना का व्यूह बाँध लूँ।

में भूल रहा है फिर भी···

वीरसेन—सत्य कह रहा हूँ मैं···एक कुमारी के लिए तुमने अपने पुरुष जन्म की लाज उधेड़ दी।

अंगारक—(क्रोध में) शस्त्र की कला की बात कर···प्रेम की कला जानता होगा तू···

वीरसेन—प्रेम की कला जो नहीं जानता···शस्त्र की कला भी नहीं जानता वह। सुन ले मुझसे···जो रमणी का हृदय नहीं जीत सकता वह युद्ध में किसे जीतेगा ? जन्म और स्वभाव का हारा कर्म में कब जीत सकता है ?

अंगारक—तब फिर आओ···रण की कला देख लो पहले··· प्राण बचें तुम्हारे तब प्रेम की कला देखना।

वीरसेन—पहला आघात तुम्हारा···

अंगारक—क्यों···?

वीरसेन—हमारे धर्म में शत्रु को पहले आघात का अधिकार है।

अंगारक—कायरों का···पराजित दासों का धर्म और होगा ही क्या ?

वीरसेन—म्लेच्छ कृपाण, हिंसा और हत्या वीरों का धर्म नहीं है···

अंगारक—देख···यह ले। (अंगारक खड्ग चलाता है)

वीरसेन—(घोड़े की बाग मोड़ कर चलते हुए) देवपुत्री का स्मरण कर··· रूप और प्रेम की उस प्रतिमा को हृदय में भर ले··· उसके देखने का अवसर अब तुझे न मिलेगा।

अंगारक—तुझे भी···(फिर खड्ग चलाता है। वीरसेन के खड्ग से टकरा कर उसका खड्ग टूट जाता है।)

वीरसेन—खड्ग टूट गया तुम्हारा अंगारक !

अंगारक—(हाँफते हुए) हा···हा···हा···

वीरसेन—उन्माद हो रहा है···खड्ग ले आओ···नहीं तो यह मेरे पास दूसरा है। (अपना खड्ग आगे बढ़ाता है)

अंगारक—(भयानक हँसी) शत्रु के शस्त्र का भी विश्वास नहीं करता मैं···अभी यह भल्ल है। (दाँत पीस कर भल्ल चलाता है।)

[दोनों के भल्ल टकराते हैं। दोनों ही ढाल से आघात रोकते हैं। भल्लों के टकराने से चिनगारी फूट पड़ती है। दोनों के घोड़े एक में गुँथ जाते हैं।]

नेपथ्य में कई सैनिक—छत्रप अंगारक की जय···शत्रु मरा···

नेपथ्य में कई सैनिक—महाराज वीरसेन की जय···कुषाणविजयी नागराज की जय···

वीरसेन—गिरा तुम्हारा अश्व अंगारक, सँभलो !

अंगारक—(घोड़े से कूद कर) शत्रु की दया नहीं चाहता···ले यह भल्ल भी फेंक दिया। (भाला दूर फेंक देता है)

वीरसेन—मेरी शरण में आ रहे हो···

अंगारक—(उन्माद की हँसी) हा···हा···तेरी शरण में···यमराज की शरण छोड़ कर।

वीरसेन—निरस्त्र शत्रु से मैं नहीं लड़ता···

अंगारक—हा···हा···हा···मेरी भुजाओं का बल देख···समुद्र सी अगाध और हिमालय सी गुरु।

वीरसेन—(घोड़े से कूद कर) अच्छी बात···तुम्हारी भुजाओं के लिए मैं भी अश्व और शस्त्र दोनों छोड़ रहा हूँ···(शस्त्रों को फेंक कर)

हाँ मेरी भुजायें भी दृढ़ हैं।

[वीरसेन और अंगारक दोनों मतवाले हाथी से पीछे हट हट कर भिड़ते हैं; फिर मल्लयुद्ध में गुँथ जाते हैं। दोनों की साँस से आँधी-सी चल रही है।]

वज्रसेन (नेपथ्य में)—अंगारक के अंग वज्र के बने हैं···रक्षा करो महामाया! अपने भक्त की लाज रखो।

भैरवीसिद्ध (नेपथ्य में)—भवानी का तेज ले कर तुम अधीर हो रहे हो···धीरज धरो ध्यान से देखो। देख रहे हो कुछ?

वज्रसेन (नेपथ्य में)—अंगारक का मुख काला पड़ रहा है··· नागराज अभी भी प्रसन्न हैं।

भैरवसिद्ध(नेपथ्य में)—देखो···देखो···अंगारक गिरा···गिरा।

[अंगारक टूटे पेड़-सा धरती पर गिरता है। दोनों बाँहें दोनों ओर फैल जाती हैं। वीरसेन हाथ से ललाट का पसीना पोंछ कर ध्यान से झुक कर अंगारक को देखता है।]

वीरसेन—अंगारक···(मन्द स्वर में) इसकी रीढ़ टूट गई।

अंगारक—ओ···ओ···ओ···(हाथ पैर पटकता है)

वीरसेन—शान्त हो गया। राजनीति और प्रणय दोनों के द्वन्द्व अन्त हो गया। अन्तर्वेद आज स्वतन्त्र है···गङ्गा की धारा मुक्त ···पितरों का भाग्य खुला···

भैरवीसिद्ध—(नेपथ्य में)—महामाया! तुम्हारी जय हो। वान भूतनाथ! मथुरा के दुर्ग पर तुम्हारी पताका फहरा कर ारी पुरी में गङ्गा तट पर अश्वमेध होगा।

वज्रसेन—(वेग में प्रवेश कर) सावधान भद्र! शत्रु निकट

पहुँच गये।

वीरसेन—यह क्या कृपाण सैनिक! द्वन्द्व युद्ध में तुम लोग कहाँ?

कई स्वर—कुमार अंगारक के साथ तुम्हें भी…

वीरसेन—फिर आओ…(दौड़ कर खड्ग उठा कर) संजय! तुम भी आ गये…स्वामी के संकट में जब तुम भी आ गये…फिर भागना क्या। चलो शत्रु की सेना में घुसो…शत्रु की चोट पीठ पर न लगे।

[उसका घोड़ा उसके निकट आ जाता है। वीरसेन उस पर चढ़ कर वेग में वज्रसेन के साथ ओझल होता है। नेपथ्य में शस्त्रों की झंकार और ललकार सुनाई पड़ती है]

वज्रसेन (नेपथ्य में)—शत्रुओं के विश्वासघात का प्रतिकार करो…नागराज वीरसेन की जय…बीच में नागराज को अपने घेरे में कर लो और वृत्त व्यूह में लड़ो।

भैरवीसिद्ध (नेपथ्य में)—यह ले अधम!…पीछे से आघात करता है…हा…हा…विन्ध्यवासिनी की शपथ…वीरो! इन म्लेच्छों की मुक्ति गंगा की रेती में हो।

[घोर युद्ध की ध्वनि। फिर शान्ति। भैरवीसिद्ध, वीरसेन और वज्रसेन का प्रवेश]

भैरवीसिद्ध—चलो महामाया के दर्शन करो। शत्रु भाग रहे हैं। अघोर भट्ट का गजयूथ प्रलय का बादल बन गया है…रुद्रसेन रुद्र बना है। म्लेच्छ देख लेंगे आज इस देश का तेज…

वीरसेन—(भैरवीसिद्ध के पैरों पर लोट कर) आपके पुण्य का यह फल है आचार्य।

भैरवीसिद्ध—विन्ध्यवासिनी और भगवान शंकर का प्रसाद है यह··· मेरा पुण्य तब कहाँ था जब काशी की रक्षा न कर सका। (उठा कर छाती के लगाते हैं)

वज्रसेन—आचार्य ! आपका यह खड्ग न होता तो हम दोनों···

भैरवीसिद्ध—इसका कलंक आज धुल गया। पीछे से तुम दोनों पर आघात करने वाले सात दस्यु इसी से कट कर धरती पर गिरे। तुम्हें कहीं चाट तो नहीं आई है वीरसेन !

वीरसेन—अंगारक वज्र था आचार्य ! धृतराष्ट्र की बाँहों में दब कर जैसे लोहे की मूर्ति चूर-चूर हुई थी···शरीर के सभी जोड़ तड़तड़ा उठे मेरे···मुझे तो लगा भवानी आपरूप उसका निवारण कर रही थीं। रीढ़ की हड्डी कैसे टूटी उसकी और किस प्रकार उसके मुँह से रक्त निकला···मैं तो बराबर आत्मरक्षा में लगा रहा···आघात तो कोई किया नहीं।

भैरवीसिद्ध—महामाया अपने भक्त की रक्षा बराबर करती रही हैं। हमारे देश और धर्म पर जब कभी संकट आयेगा···जब कभी विदेशी गंगा की धारा पर अधिकार करेंगे···भवानी के भक्त सदैव आगे बढ़ कर उनसे लोहा बजायेंगे।

वीरसेन—भविष्यवाणी है यह आपकी आचार्य !

भैरवीसिद्ध—हाँ···पुत्र···उन भक्तों को लुटेरा और हिंसक कहा ा···पर उनका व्रत होगा केवल धर्म और देश।

वीरसेन—एक प्रार्थना है।

भैरवीसिद्ध—कहो···

वीरसेन—आप अपने सामने अंगारक के शव का दाह कर्म करा

दीजिये। काशी का छत्रप आज सब ओर से असहाय है। उसका अन्त का कर्म तो हो जाय।

भैरवीसिद्ध—धन्य हो पुत्र! शत्रु पर भी कर्तव्य का भाव है तुम्हारे भीतर...

वीरसेन—पर अब शत्रु कहाँ है? उसके भीतर का शत्रु तो उड़ गया।

भैरवीसिद्ध—जब तक विन्ध्यवासिनी रहें...भगवान शंकर और गंगा की धार रहे...शत्रु के प्रति तुम्हारी इस उदारता का आख्यान चले। अंगारक के शवदाह का प्रबन्ध जब करा लूँगा शंखनाद करूँगा। उस समय तुम भवानी के मन्दिर को चल पड़ना। आज बिना तुम्हारे मैं वहाँ न जाऊँगा।

वीरसेन—जैसी आज्ञा आचार्य!

[भैरवीसिद्ध का प्रस्थान]

वज्रसेन—आचार्य न होते आज...तो हम दोनों आज उस मार्ग में होते जहाँ से फिर कोई नहीं लौटता।

वीरसेन—हम दोनों की रक्षा के लिए तो भवानी ने उन्हें भेजा था...नहीं कहा था उन्होंने भगवती की यही आज्ञा है।

वज्रसेन—आओ अब चलें...

वीरसेन—सात दिन में यह वर्ष बीत जायेगा। (गहरी साँस लेता है।)

वज्रसेन—(मुसकरा कर) तब...

वीरसेन—देवपुत्री मुझे वचन का धनी न मानेंगी और फिर मेरे इस दोष से निराश हो कर कहीं पुरुषपुर न चली जायँ।

वज्रसेन—और कहीं अंगारक जीत जाता तब…

वीरसेन—देवपुत्री के प्रेम का कवच पहने था मैं…अनन्य प्रेम अमृत होता है भद्र! अंगारक को जीत कर भी आशा नहीं थी और मैं मरता भी उसी आशा में।

वज्रसेन—अरे! तुम इस तरह काँप क्यों उठे?

वीरसेन—उस स्मृति से मैं विवश हो जाता हूँ।

वज्रसेन—वह दिन देखने को मिले…मैं तो कह चुका हूँ…इन्द्र का पद भी उस लाभ के सामने तुच्छ है।

वीरसेन—मिलेगा…सातवीं संध्या तक जो हम वहाँ पहुँच गये।

वज्रसेन—इतनी दूर किस गति से चलेंगे?

वीरसेन—पचास अश्वारोही…

वज्रसेन—(विस्मय में) बस…

वीरसेन—हाँ भाई…मथुरा में सेना नहीं है। यमुना के उस पार मैं नई सेना बना लूँगा। यहाँ से चलेंगे पचास…वहाँ दुर्ग से टकराएँगे पाँच सहस्र।

वज्रसेन—मिल जायेंगे इतने सैनिक?

वीरसेन—तब क्या उस भूमि में तरुण नहीं है? यमुना तीर की पचास कोस भूमि मेरी देखी है। वहाँ के तरुण विदेशियों को उखाड़ फेंकने को अधीर हैं। कोई नायक चाहिये उन्हें…और मैं वही बनूँगा।

वज्रसेन—तब तो कठिन नहीं है…आज रात को ही चल दें।

वीरसेन—हाँ…आज रात को।

वज्रसेन—देवपुत्री न मिलें तब…

वीरसेन—रात में सूर्य और दिन में चन्द्रमा निकलें…पर देवपुत्री

अपनी जन्मभूमि न छोड़ेंगी'''यह जानता हूँ मैं।

वज्रसेन—देवपुत्री अपने विख्यात कुल को छोड़ रही हैं भद्र! तुम्हारे प्रेम के लिए।

वीरसेन—समुद्र में मिलने के लिए गंगा ने हिमालय छोड़ा था। देखो यहाँ'''(अपनी छाती पर हाथ रखता है।)

वज्रसेन—(उसकी छाती पर हाथ रख कर) ऐं'''इतनी धड़कन!

वीरसेन—देवपुत्री की वीणा के स्वर कानों में गूँज रहे हैं। वे इस समय प्रासाद से लगे प्रमदवन में कहीं बैठ कर वीणा बजा रही होंगी। उन स्वरों में प्रेम के पंख लगे होंगे। (वहीं धरती पर बैठ जाता है।)

वज्रसेन—प्रतिज्ञा करता हूँ मैं'''सातवीं संध्या को हम लोग वहाँ पहुँच जायेंगे।

वीरसेन—सहारा दो भाई'''अंगारक से युद्ध में मैं कुछ और था'''अब कुछ और हूँ।

वज्रसेन—(उसे उठा कर) छोड़ो यह निर्बलता। घोड़े हारेंगे तो हम उड़ कर चलेंगे'''पर चलेंगे।

वीरसेन—शत्रु की कन्या ने कभी किसी को इस तरह'''

वज्रसेन—क्या'''(मुसकराता है)

वीरसेन—चलो'''तुम मेरे संकट में मंगल मना रहे हो।

वज्रसेन—तब क्या? देवपुत्री के प्रेम से बढ़ कर दूसरा संकट तुम्हारे लिए क्या होगा? कुछ दिनों में बैठ कर मोदक खाना भी तुम्हारे लिए संकट हो जायेगा!

[शंखनाद होता है। दोनों का हँसते हुए प्रस्थान।]

तीसरा अंक

[मथुरा में कुषाणराज वासुदेव का दुर्ग। अन्तःपुर के प्रमदवन के सामने वाले कक्ष में देवपुत्री कौमुदी कई पात्रों में धरे फूलों की माला गूँथ रही है। दो गूँथी हुई मालायें चाँदी के पात्र में रखी हैं। माला गूँथते समय कौमुदी गुन-गुना रही है। कक्ष के बाहर प्रमदवन की ओर से आती हुई नन्दिनी देख पड़ती है। नन्दिनी के हाथ में भी फूलों से भरा पात्र है। वह प्रवेश कर कौमुदी के निकट जाती है, जहाँ वह कई प्रकार के भद्रपीठों के बीच में नीचे चित्रित पटवस्त्र पर बैठी है। उसकी वीणा सामने के भद्रपीठ पर रखी है। कक्ष के तीन ओर के खुले कपाटों से प्रमदवन की वनश्री झलक रही है। सूर्य पश्चिम दिशा में नीचे उतर रहा है···जिसकी किरणें पश्चिम के द्वार के भीतर से हो कर कौमुदी की वेणी और पीठ पर पड़ कर विशेष रंग धारण कर रही हैं।]

नन्दिनी—देवपुत्री !

[कौमुदी जैसे सुनती नहीं]

नन्दिनी—सुन नहीं रही हैं ?

कौमुदी—(जैसे नींद से जाग कर) ऐं···कौन···

नन्दिनी—नन्दिनी। देवपुत्री ! अकेले कितनी गूँथेंगी···उँगलियाँ दुख जायेंगी···चम्पा गूँथ देती और मैं भी···

कौमुदी—रात स्वप्न में···मोहक मुकुट पहने···हँसी से मेरे हृदय और आकाश को रँगते हुए···(जैसे स्वप्न में बोल रही हो)

नन्दिनी—(विस्मय से) कौन राजपुत्री ! कौन आया था रात स्वप्न में ?

कौमुदी—(सचेत हो कर) क्या कह रही हो ?

नन्दिनी—कौन स्वप्न में आया था ?

कौमुदी—कैसा स्वप्न ?

नन्दिनी—अभी आप कह रही थीं···

कौमुदी—कुछ कहा तुमसे मैंने ?

नन्दिनी—अभी आपने कहा···रात स्वप्न में···मुकुट पहने ···हँसी से आपके हृदय और आकाश को रँगते हुए···

कौमुदी—कहा था मैंने यह···कब कहा नन्दिनी···कहो तो···

नन्दिनी—अभी आप कह रही थीं···भूल गईं···

कौमुदी—होगा···सपने की बात भूलने ही के लिए तो होती है··· हाँ कुछ सूचना मिली ?

नन्दिनी—किस बात की ?

कौमुदी—मेरे संकट में तुझे रस मिलता है नन्दिनी ? सब कुछ जान कर अनजान बनती है। (उसकी आँखों से आँसू निकल पड़ते हैं)

नन्दिनी—हाय ! हाय ! आप रो रही हैं देवपुत्री···

कौमुदी—मैं नहीं रे···इन आँखों को क्या करूँ ? किस बात की सूचना चाहती हूँ मैं···नहीं जानती है ?

नन्दिनी—काशी के द्वन्द्व युद्ध की होगी···इस समय दूसरी कोई बात···

कौमुदी—हाँ उस द्वन्द्व की···(बाईं आँख पर उँगली रख कर) यह आँख फड़क रही है···कोई शुभ सूचना मिलेगी।

नन्दिनी—किसकी विजय चाहती हैं देवपुत्री आप ?

कौमुदी—चुप भी रह···मुझ से न पूछ कर अपने मन से क्यों नहीं पूछती···कोई भी दूसरी कुमारी···तू भी उसी की विजय चाहेगी जो प्राण को हथेली में ले कर चलता है।

नन्दिनी—हाँ राजपुत्री !

कौमुदी—बात से भी मेरी सहायता नहीं करती···जो कुछ पूछूँ बस तू हाँ राजपुत्री कह कर निकल भागती है।

नन्दिनी—(संकोच में) आपके निकट अधिक बोलने में भी तो डर लगता है।

कौमुदी—अच्छा होता मैं देवपुत्री न हो कर कुछ और बनी होती···उस समय सहेलियों का मन तो मुझे मिलता···पर इस समय जब तुम्हारा मन नहीं पा सकी तो फिर किसी दूसरे की बात क्या ?

नन्दिनी—(हाथ जोड़ कर) ऐसा नहीं···उन्हीं की विजय मैं भी मनाती हूँ···

कौमुदी—(मुसकरा कर) किसकी···नाम तो ले···

नन्दिनी—अरे···(घबरा उठती है)

कौमुदी—विजय उसी की हो जो अल्हड़ है···अपने जीवन का घेरा भी जो नहीं जानता···रमणी के रूप से जो सुखी होता है, अनुतप्त नहीं।

नन्दिनी—मैं भी यही कहूँगी।

कौमुदी—अब बोल ऐसा कौन है ?

नन्दिनी—कुमार वीरसेन···

कौमुदी—सच कह रही है उनकी जीत चाहती है तू ?

नन्दिनी—आपके सुख में ही मुझे भी तो सुखी होना है।

कौमुदी—आज वर्ष बीत रहा है नन्दिनी ! अभी तक कुछ पता नहीं। न रहेगी उनकी बात…फिर अब किस लिए मुझे…नन्दिनी बोल तो…

नन्दिनी—इतनी दूर से आना है…एक दो दिन की देर भी हो सकेगी।

कौमुदी—उनकी प्रतिज्ञा तो टूट जायेगी…आज ही…आज ही संध्या तक…सूर्य का रथ भी आज अधिक भाग रहा है। इतनी जल्दी सूर्य कभी नहीं डूबता था।

नन्दिनी—मनुष्य के मन पर सूर्य का रथ नहीं चलता देवपुत्री !

कौमुदी—अरे ठहर…कौन बोल रहा है यह…

[भयभीत मुद्रा में कुमार कनिष्क का प्रवेश]

कौमुदी—क्या है भाई, ऐसे डरे हुए क्यों हो ?

कनिष्क—(उद्वेग में) सर्वनाश हो गया देवपुत्री…(भद्रपीठ पर गिर पड़ता है)

कौमुदी—ऐसे प्राण छोड़ोगे भैया…फिर मुझे धीरज कौन देगा ? कहो भी क्या हुआ ?

कनिष्क—(गहरी साँस खींच कर) द्वन्द्व युद्ध में अंगारक मारा गया। वीरसेन के सैनिकों ने हमारी तीनों सेनायें काट कर गंगा का कछार पाट दिया।

कौमुदी—ऐं…द्वन्द्व के बाद नागराज ने हमारी सेना का संहार किया…विश्वासघात से द्वन्द्व के नियम तोड़ कर ?

कनिष्क—अंगारक के मारे जाने पर हमारे सैनिक आवेश न रोक

सके और वीरसेन पर आक्रमण करने लगे।

कौमुदी—तब अपनी करनी का फल मिला उन्हें···खेद न करो कुमार!

कनिष्क—इतने ही से यह बात मिट नहीं गई देवपुत्री! (हाँफता है)

कौमुदी—कुछ और हुआ···

कनिष्क—तुरत तैयार हो जाओ बहन! हमें यहाँ से भागना है।

कौमुदी—(उद्वेग से) कहाँ भागना है···क्यों?

कनिष्क—वीरसेन यमुना के उस किनारे आ गया है। पाँच सहस्र सैनिक उसके साथ हैं।

कौमुदी—हम भागेंगे भाई? बिना लड़े? देवपुत्रों की कीर्ति क्या होगी तब?

कनिष्क—यहाँ सेना कहाँ है अब···हमारे सैनिक वीरसेन के आतंक से त्रस्त हो रहे हैं। मैंने देख लिया···उसके सामने यहाँ की बची सेना न टिकेगी। सैनिकों का मुँह भय से पीला पड़ गया है। हाथ से शस्त्र छूट कर गिर रहे हैं। उसके पहुँचने के पहले ही जिनकी यह दशा है···उसके आ जाने पर वे क्या करेंगे?

कौमुदी—सैनिक भाग जायँ···हम भाई बहन दुर्ग के सिंहद्वार पर लड़ कर मरें।

कनिष्क—फूँक से पहाड़ उड़ाओगी? मरना इतना आवश्यक है?

कौमुदी—किस महापुरुष का नाम तुमने धारण किया है···क्यों भूल रहे हो? प्रपितामह कनिष्क जिन्होंने चीन के महान सम्राट का विरुद देवपुत्र धारण किया। चीनी सेनापति पानचांग को हरा कर जिन्होंने कितने चीनी राजकुमारों को बन्धक में रक्खा। कापिशी और

चीनभुक्ति में उनकी कथायें तुमने भी सुनी होंगी।

कनिष्क—वह हमारे कुल का दिन था…अब रात आई है। दिन बीतने पर रात आती है…प्रकृति के इस नियम को हम बदल नहीं सकते।

कौमुदी—तब तुम जाओ…मथुरा मेरी जन्मभूमि है। जन्मभूमि का अधिकार छोड़ने को न कहो मुझसे। तुमने जन्म पुरुषपुर में लिया था।

कनिष्क—तुम्हें इस अधम नाग की कृपा पर छोड़ जाऊँ? तात पूछेंगे बहन को कहाँ छोड़ा…क्या कहूँगा?

कौमुदी—कह देना बहन जन्मभूमि के अधिकार पर अड़ गई…

कनिष्क—(उसका हाथ पकड़ कर) दुर्ग जल रहा है…हमारी साख मिट रही है, तुम बैठी माला गूँथ रही हो। कैसे यह काम हो रहा है तुमसे? मेरे तो सभी अंग जड़ हो रहे हैं। चलो…नहीं तो घिर जायेंगे…(वेग से साँस लेता है)

कौमुदी—कह दिया…मुझे यहीं रहने दो…किसी के डर से जन्म-भूमि नहीं छोड़ी जाती।

कनिष्क—यह नाग तुम्हारा अपमान करेगा। मेरे वंश की लाज न मिटाओ।

कौमुदी—(आवेश में खड़ी हो कर) वीर स्त्री का अपमान कभी नहीं करता। नागराज वीर हैं…छोड़ दो मुझे उन्हीं विजयी की कृपा पर। देख नहीं रहे हो…स्मरण करो वर्ष भर पहले की बात…जब उन्होंने वर्ष के अन्त में विजयी नागराज के रूप में लौटने को कहा था। बात के धनी हैं वे…वर्ष के इस अन्तिम दिन वे आ पहुँचे।

कनिष्क—तब वीरसेन पर तुम्हारा अनुराग है...अंगारक ने सच कहा था।

कौमुदी—अंगारक का पौरुष उसे न रोक सका...तुम्हारा पौरुष जो उसे रोक दे...पराजित करो भाई इस नाग विजयी को...सेना नहीं है...उनके साथ द्वन्द्व युद्ध करो। सिंहद्वार पर खड़ी हो कर मैं यह प्रस्ताव करूँगी...विश्वास है मुझे वे वीर धर्म का निर्वाह करेंगे...तुम्हारा निमन्त्रण स्वीकार करेंगे वे।

कनिष्क—पर मेरे साथ पुरुपपुर न चलोगी ?

कौमुदी—नहीं...किसी भय में...किसी की चिन्ता या सन्देह में अपने जन्म की भूमि मैं न छोड़ूँगी। वर्ष के अन्तिम दिन वे आ रहे हैं...अपनी बात वे न भूलें और मैं अपनी भूल जाऊँ उनके भय से ? कुषाण सैनिक त्रस्त हैं...देवपुत्र कुमार कनिष्क त्रस्त हैं...एक मैं तो निर्भय रहूँ। नहीं तो देवपुत्रों के रक्त में ही भय के बीज खोजे जायेंगे।

कनिष्क—सर्प का विश्वास नहीं करते बहन! नागराज सर्प है।

कौमुदी—मणि के लिए उसका भी विश्वास करते ही हैं।

[नेपथ्य में शंखनाद और कोलाहल। महाराज वीरसेन की जय...जय...जय...]

कनिष्क—नदी पार कर रहा है वीरसेन...क्या करूँ मैं अब...तुम्हारे हठ से मैं भी पकड़ा जाऊँगा।

कौमुदी—चले जाओ कुमार तुम पुरुपपुर...मेरी चिन्ता छोड़ो...यह भूमि जिसने मुझे उस दिन अपनाया...फिर भी अपनायेगी ?

कनिष्क—अच्छी बात...पर मुझे दोष न देना कि मैं तुम्हें छोड़ कर चला गया।

कौमुदी—नहीं दूँगी दोष मैं तुम्हें। इतनी दूर चले जाओ जहाँ नागराज का भय न रहे तुम्हें। पर क्या वे पुरुपपुर न जायेंगे? भागने वाले कब कहाँ टिके हैं?

[कुमार कनिष्क सिर नीचा कर पश्चिम के द्वार से जाता है]

कौमुदी—नन्दिनी!

नन्दिनी—कहिये देवपुत्री! क्या आज्ञा है?

कौमुदी—तुझे भी मुक्त करती हूँ मैं। कुमार दुर्ग के पश्चिम द्वार से निकलेंगे। तू भी चली जा उनके साथ। डर रही हो तुम··· (उसकी ओर देखती है)

नन्दिनी—कहाँ जाऊँ मैं देवपुत्री! आपको छोड़ कर? आपकी छाया में सदैव निर्भय हूँ···किसका साहस होगा आपके साथ रहने पर मेरी ओर देखने का भी···पिछले आठ वर्ष आपके साथ खेल कूद में बीते···वीणा और चित्र में बीते···आपसे अलग हो कर क्या मैं जी भी सकूँगी?

कौमुदी—चाहे और किसी का विश्वास मैं न करूँ···पर इस धरती का विश्वास मुझे करना होगा। चलो दुर्ग के सिंहद्वार पर खड़ी हो कर देखें नागराज अब क्या करते हैं।

नन्दिनी—चलिये देवपुत्री!

कौमुदी—उठा लो माला तुम भी···यह एक मैं ले रही हूँ।

[दोनों माला ले कर कक्ष के सामने प्रमदवन के किनारे के सिंहद्वार पर जा कर खड़ी होती हैं। कौमुदी के अंग से उल्लास प्रकट हो रहा है।]

नन्दिनी—यहीं रुकें देवपुत्री···यह स्थान ऊँचा है।

[सिंहद्वार के किनारे स्फटिक के मंच पर दोनों खड़ी होती हैं और यमुना की धारा की ओर देखती हैं ।]

कौमुदी—मैं अब देवपुत्री नहीं हूँ नन्दिनी !

नन्दिनी—यह क्या कह रही हैं ?

कौमुदी—(हंस कर) वह मान मेरा मिट गया । देवपुत्रों के अधिकार से जब यह भूमि निकल गई···मैं देवपुत्री न रही । अब तो बस इस धरती की धूल से बनी मैं एक अकिंचन कुमारी हूँ ।

नन्दिनी—यह सुन कर मेरा मन काँप जाता है ।

कौमुदी—(उसके कन्धे पर हाथ रख कर) अब तुम मेरी प्रतिहारी नहीं···मेरी बहन हो । अधिकार भी अब हम दोनों का बराबर है···मेरा जन्म के कारण और तुम्हारा पिछले आठ वर्ष से यहाँ बराबर रहने के कारण । (दोनों हाथों में पकड़ कर उसे गले लगाती है)

नन्दिनी—(आनन्द में रो कर काँपते स्वर से) पर मैं बराबर दासी रहूँगी । आप जहाँ रहें जिस स्थिति में रहें···मैं सब कहीं दासी रहूँगी । आज तक जैसे आपको अंगराग लेप और काजल लगाती आई···केश का संस्कार अगुरु गन्ध से करती रही···आगे भी करती रहूँगी ।

कौमुदी—अब वह सब सामग्री मिलेगी कहाँ नन्दिनी !

नन्दिनी—यह क्या सुन रही हूँ मैं ?

कौमुदी—क्या ?

नन्दिनी—विजयी नागराज आपको अपनी पलकों में रखेंगे । फिर वस्तु का कब अभाव रहेगा आपको ?

कौमुदी—और कहीं वह मुझे अब अपने योग्य न समझें । कभी

मैं देवपुत्री थी और वे देवपुत्र के सैनिक थे···वे आज विजयी नागराज हैं और मैं अब इस धरती में सब से···(स्वर भारी हो उठता है)

नन्दिनी—उनके प्रेम में आप शंका कर रही हैं ?

कौमुदी—जिस दिन यह करूँगी···इस देह में प्राण न रहेगा··· फिर क्या सब सच नहीं कहा मैंने ?

नन्दिनी—सच और झूठ की कौन जाने···मैं एक बात जानती हूँ···इसी दुर्ग में आप रानी बनेंगी।

कौमुदी—(चुटकी से उसकी नाक पकड़ कर) बड़ी ढीठ है रे ! बिना राजा के रानी बनाने लगी।

नन्दिनी—(सामने की ओर हाथ उठा कर) वह धूल उड़ रही है···उन्हीं अश्वारोहियों में राजा आ रहे हैं···अपनी रानी को पलकों में उठाने···

कौमुदी—पलकों पर उतरने आ रहे हैं पगली···

नन्दिनी—दोनों एक ही बात है···उनकी पलकों में आप और आपकी पलकों में वे।

कौमुदी—देख तो कितने अश्वारोही हैं।

नन्दिनी—एक, दो, तीन, चार, पाँच हैं कुल !

कौमुदी—हाँ···पाँच ही तो लगते हैं।

नन्दिनी—वह देखिये देवपुत्री···वह कौन है घोड़े पर···सिर के बालों की श्वेत जटायें और···उजली छाती तक फैली दाढ़ी।

कौमुदी—हाँ रे···चल हम लोग यहाँ से भीतर चलें।

नन्दिनी—अब आप डर रही हैं राजपुत्री !

कौमुदी—सिर की इन श्वेत जटाओं से···उजली दाढ़ी से···सच

कह तू डरेगी कि नहीं इन जटाओं से···इस दूध के रंगवाली दाढ़ी से···तुझे इन्हीं की सेवा में रहना पड़े।

नन्दिनी—हाय ! बाप रे ! नहीं···ऐसा न हो देवपुत्री···पैरों पड़ती हूँ। मुझे किसी ऐसे की सेवा में रखियेगा जिसके बाल भौंरे से काले हों। देख रही हैं···और सब रुक गये। अकेले कुमार वीरसेन आ रहे हैं।

कौमुदी—यह नाम एक बार फिर तो ले।

नन्दिनी—(हाथ जोड़ कर आँख मूँद कर) कुमार वीरसेन···

कौमुदी—देख रहे हैं···पगली हाथ खोल दे···आँख खोल कर देख।

नन्दिनी—अब आ गये···शरद के कमल से खिल रहे हैं।

कौमुदी—उष्णीष का छोर वायु में लहरा रहा है। भूली तो नहीं नन्दिनी ! कहा था मैंने नागराज अजेय हैं। देवपुत्रों के पैर इस धरती से उखड़ जायेंगे···उखड़ गये न वे ?

नन्दिनी—उखड़ गये देवपुत्री ! यह देखिए साथ के लोगों को ये संकेत से हम दोनों को दिखा रहे हैं। और सब वहीं रुक गये···अकेले कुमार आ रहे हैं।

कौमुदी—घोड़े से उतर गये वे भी···रास छोड़ दिया उन्होंने···पैदल आ रहे हैं। नन्दिनी सहारा दे मुझे···नीचे की धरती हिल रही है।

वीरसेन—(प्रवेश कर) आज वर्ष की अंतिम संध्या है देवपुत्री ! विन्ध्यवासिनी की कृपा से मेरी बात रह गई।

कौमुदी—(भरे कण्ठ से) वर्ष भर की प्रतीक्षा पर यह संध्या

मिली है। विश्वास था मुझे विजयी अपनी बात न टलने देंगे।

वीरसेन—(दायें हाथ के कौशेय ध्वज को हिला कर) देवपुत्री मैं अब भी वही सेवक हूँ…विजयी मुझे दूसरे कहेंगे…देवपुत्री नहीं…

नन्दिनी—और समीप आइये कुमार! देवपुत्री की माला मुरझा रही है।

वीरसेन—(निकट आ कर) तब मेरे स्वागत में…मेरे भाग्य से डाह देवता भी करेंगे।

कौमुदी—(उसके कण्ठ में माला डाल कर) मेरी जन्मभूमि का अधिकार यह है।

वीरसेन—पुरुषपुर आप नहीं गईं!

कौमुदी—जन्मभूमि छोड़ने को कह रहे हो…(गद्गद कण्ठ से) तुम्हारे राज्य में मुझे तीन हाथ धरती न मिलेगी? विजयी की विजय का गौरव क्या होगा!

वीरसेन—देवपुत्री की सेवा। बन्धु वज्रसेन से मैंने कहा था, अंगारक के साथ युद्ध में देवपुत्री का प्रेम मेरा कवच बना। अच्छी तो रही हो नन्दिनी!

नन्दिनी—कुमार की राह देखते आँखें थक गईं।

वीरसेन—ऐसी बात हो तो…

नन्दिनी—कहिये…रुक क्यों गये?

वीरसेन—बात करने में मैं तुम्हारे साथ निभ न सकूँगा। मुझे सरस्वती का स्मरण करना पड़ेगा और तुम सदेह सरस्वती हो।

कौमुदी—सरस्वती की तरह यह वाचाल भी है। (हँसती है)… अब कुमार!

वीरसेन—सेवा को प्रस्तुत हूँ···आदेश मिले मुझे···

कौमुदी—मेरी ओर मन कुछ भी झुका था ?

वीरसेन—उसे तो मैं यहीं छोड़ गया था···देवपुत्री के चरणों में।

कौमुदी—उस समय यह तनिक भी प्रकट न हुआ···कठोर ! (भारी स्वर)

वीरसेन—उस समय···उस समय देवपुत्री···तब तो यह बिना पंख के आकाश में उड़ना होता।

कौमुदी—(कुछ कहना चाहती है पर आनन्द के आँसू उसकी आँखों से निकल पड़ते हैं और स्वर भारी हो उठता है) कुमार···

वीरसेन—सम्हालो नन्दिनी देवपुत्री को···(नन्दिनी उसे पकड़ती है। उसका सिर नन्दिनी के कन्धे पर टिक जाता है) कहें कुमारी···यह दास कभी आज्ञा के विरुद्ध आचरण न करेगा।

कौमुदी—(भरे कण्ठ से) सब चले गये···दुर्ग में एक भी कुषाण सैनिक नहीं है···कुमार कनिष्क भी चले गये।

वीरसेन—अपनी जन्मभूमि की आप स्वामिनी बनें, यह दुर्ग, जहाँ तक देवपुत्रों का राज्य था···सब कुछ आपका है···जो चाहें मुझसे सेवा ले सकती हैं और जो चाहें मुझे यहाँ से निकाल सकती हैं। सब चले गये पर मैं हूँ···यह नन्दिनी भी है आपके बालापन की सहेली।

कौमुदी—तब यह ध्वजा मुझे दो कुमार···भगवान शंकर की यह यह ध्वजा···तुम्हारा यह विजयकेतु मेरे हाथों दुर्ग के शिखर पर लहरा उठे ?

वीरसेन—विजय की ध्वजा शक्ति के हाथों उड़े इससे बड़ा भाग्य और क्या होगा कुमारी ! मैं भी साथ चलूँ ?

कौमुदी—नहीं तो क्या अब भी अलग-अलग…(मुसकरा पड़ती है)

वीरसेन—(कण्ठ की माला हिला कर) अनुराग के रंग और रस में डूबी इस माला के योग्य बन सकूँ मैं…अभी तो भाग्य का यह भार मुझसे चलता नहीं।

कौमुदी—तुम नहीं जानते…तुम्हारी शक्ति मैं जानती हूँ (जाते जाते) भूल तो नहीं गये प्रमद वन का वह दिन ? (मन्द हँसी)

वीरसेन—(हँस कर) उस दिन…इस हृदय में जो ज्वार उठा था उसी में तो देवपुत्रों का राज्य डूबा है। देवपुत्री ! मुझ पर उस दिन अनुग्रह करना चाहती थीं…पर पुरुष अनुग्रह नहीं लेता…वह विजय करता है।

कौमुदी—आज की विजय जैसी…

वीरसेन—यह विजय सब कहीं समान है…राजा या रंक भी… प्रेम माँग कर नहीं…जीत कर लेते हैं देवपुत्री !

कौमुदी—उसी में नारी की प्रतिष्ठा और रक्षा दोनों होती हैं।

[सिंहद्वार के शिखर पर कौमुदी और वीरसेन ध्वजारोहण करते हैं। भैरवीसिद्ध नीचे से शंख फूँकते हैं। वज्रसेन, अघोरभट्ट और रुद्रसेन विस्मय से कौमुदी की ओर देखते हैं।]

भैरवीसिद्ध—यह रूप इस धरती का नहीं है वज्रसेन…

वज्रसेन—इन आँखों से तो अब तक न देखा था।

अघोरभट्ट—इस रूप के लिए अंगारक ने प्राण दे कर भी पुण्य लिया।

नन्दिनी—(भैरवीसिद्ध से) महाराज आपकी आयु क्या है ?

भैरवीसिद्ध—किसे पूछ रही हो ?

नन्दिनी—और सब की आयु का अनुमान हो रहा है पर आपकी नहीं। आपकी लटों में एक बाल भी काला नहीं है।

वज्रसेन—परिहास कर रही है उद्धत लड़की…

नन्दिनी—और आप परिहास में इस प्रकार आँख लाल करते हैं। (सिर फेर कर धीमी हँसी)

भैरवीसिद्ध—(वज्रसेन को रोक कर) कौन हो तुम कन्या ?

नन्दिनी—महाराज ! मैं देवपुत्री की प्रतिहारी हूँ।

भैरवीसिद्ध—मेरी आयु जान कर क्या करोगी ?

नन्दिनी—आपको गुरु बना कर आपसे योग सीखूँगी जिससे कि (अपनी वेणी पकड़ कर) मेरे बाल भी आप जैसे दूध के…हंस के रंग के हो जायँ।

भैरवीसिद्ध—अभी मैं बीस वर्ष का हो रहा हूँ सुन्दरी…

नन्दिनी—तब तो आप अभी (वज्रसेन की ओर संकेत कर) इन सैनिक से छोटे हैं। बाल पकने थे इनके…पक गये आपके।

वीरसेन—(शिखर से उतर कर) परिहास सूझ रहा है नन्दिनी !

कौमुदी—क्यों रे ! (कड़ी आँखों से देखती है)

नन्दिनी—देवपुत्री कह रही थीं मुझे (भैरवीसिद्ध की ओर संकेत कर) इन महाराज की सेवा में दे देने को…इनसे योग सीख कर इस काली वेणी को उजली…हंस के पंख सी…

कौमुदी—(भैरवीसिद्ध को हाथ जोड़ कर) आचार्य ! नये अतिथियों के स्वागत में परिहास की कला इस यवनी को सिखाई गई थी।

भैरवीसिद्ध—कल्याण हो देवपुत्री ! परिहास से चित्त को बल मिलता है। यह यवनकन्या निपुण है।

वीरसेन—देवपुत्री ! आचार्य भैरवीसिद्ध को प्रणाम करो। इनके पुण्य से ही मैं आज यहाँ आ सका।

कौमुदी—(भैरवीसिद्ध के चरणों में झुकती है) दासी प्रणाम करती है आचार्य !

भैरवीसिद्ध—(हँस कर) तुम्हारा मंगल हो पुत्री ! हमारे नायक वीरसेन के यश की तुम सुगन्ध हो ! तुम्हारी प्रेरणा से ही ये देश और धर्म को स्वतन्त्र कर पाये।

कौमुदी—आचार्य ! जन्म के अधिकार से यह देश मेरा भी है और धर्म में हम भी तो शैव हैं। (वज्रसेन की ओर देख कर) आपका परिचय ?

वीरसेन—हमारी सेना के प्रधान सेनापति कुमार वज्रसेन···और यह अघोरभट्ट···इन्हें हनुमान इष्ट हैं···अब तक जिस युद्ध में ये गये···सब जगह विजय मिली। यह रुद्रसेन···जैसा नाम वैसा गुण···साक्षात रुद्र समझो इन्हें।

कौमुदी—(हाथ जोड़ कर) आप सबको नमस्कार है।

भैरवीसिद्ध—वीरसेन के साथ आपको अश्वमेध का अनुष्ठान करना है। यज्ञ शीघ्र आरम्भ हो इसके लिए आप दोनों का गान्धर्व विवाह तुरत हो जाय।

नन्दिनी—जैसे शकुन्तला के साथ दुष्यन्त का हुआ था।

भैरवीसिद्ध—हाँ यवनवाला ! (हँस कर) तुम तो हँसी की फुलझड़ी हो। क्या आज्ञा है देवपुत्री !

कौमुदी—(लजा कर) अभी भी मुझे आज्ञा देनी होगी आचार्य ! कदाचित् इस विवाह में कोई ऐसी पद्धति नहीं है।

[सब हँस पड़ते हैं।]

दृश्य परिवर्तन

[काशी में गंगातट। गंगा के किनारे यज्ञमण्डप। बीच में यज्ञ-वेदी। वेदपाठी मंत्रोच्चार कर रहे हैं। शंखनाद रह रह कर हो रहा है। मन्त्रों के साथ यज्ञकुण्ड में आहुति पड़ रही है। वीरसेन यजमान के वेश में यज्ञकुण्ड के समीप बैठा है। भैरवोसिद्ध अन्य कर्मकांडियों के साथ मन्त्र पढ़ रहे हैं। वज्रसेन खुला खड्‌ग लिये मण्डप के द्वार पर खड़ा है। यज्ञ सामग्री बड़े-बड़े पात्रों में वेदी पर रक्खी है। वीरसेन का शरीर यज्ञ के अनुष्ठान के कारण कृश हो रहा है फिर भी मुख मण्डल से तेज की किरणें फूट रही हैं।

यज्ञमण्डप के दक्षिण शिविर में कौमुदी और नन्दिनी बैठ कर यज्ञ के दृश्य देख रही हैं। सामने से गंगा की धार काशी को आलिंगित करती बह रही है।]

कौमुदी—यह काशी है नन्दिनी!

नन्दिनी—संसार में किसी दूसरी पुरी में यह रंग नहीं है...सब ओर आनन्द और हर्ष हिलोरें ले रहा है। यहां के निवासी कितने हँसोड़ और मस्त हैं।

कौमुदी—शङ्कर के त्रिशूल पर बसी नगरी...

नन्दिनी—यह पुरी धरती पर नहीं...शङ्कर के त्रिशूल पर बसी है?

कौमुदी—सुना है...लोग कहते यहां हैं कि प्रलय में भी इस पुरी का नाश नहीं होता। यह शङ्कर के त्रिशूल पर बसी है। इस पुरी के प्रसाद से ही हमें यह दिन देखने को मिला।

नन्दिनी—(हँस कर) यज्ञ के लम्बे अनुष्ठान से शरीर आपका क्षीण हो गया है पर मुख का तेज बढ़ता ही गया है।

कौमुदी—आर्यपुत्र से कोमल मैं नहीं हूँ···

नन्दिनी—और वह क्या कहेंगे···किसे कोमल बनायेंगे···अपने को कि आपको···

कौमुदी—चल हट···वह कुछ करें···मेरा मन कहता है···वह मुझसे कोमल हैं।

नन्दिनी—हाँ···तब क्या ? (सिर हिलाती है)

कौमुदी—आर्यपुत्र के साथ अश्वमेध के कठिन अनुष्ठान सरल बन गये। कठिन से कठिन कार्य भी अपने साथी के साथ सरल हो जाता है।

नन्दिनी—तब तो देवपुत्री ! मेरे साथ भी सब सरल हो जायेगा।

कौमुदी—तू मेरा साथी है ?

नन्दिनी—साथ रहने वाले को ही तो साथी कहते हैं। यह क्यों नहीं कहतीं कि अपने प्रेमी के साथ···अपने पुरुष के साथ कठिन काम भी सरल हो जाते हैं।

कौमुदी—तुझे किस तरह का पुरुष अच्छा लगता है नन्दिनी !

नन्दिनी—मुझे···जिसके ओठों पर हँसी और आँखों में जल हो। मान मनुहार का ढंग जिसे हो···कुछ हँस खेल ले और कभी-कभी धौल-धप्पा भी कर ले।

कौमुदी—क्यों रे ! तब तो तेरे लिए कोई ऐसा ही पुरुष खोज निकालूँ जो नित्य सवेरे पहले तेरी पीठ का संस्कार कर ले।

नन्दिनी—और नहीं तो क्या···इसका सुख अभिजात लोग क्या

जानें···जो हाथ चोट देते हैं वही जब सहलाते हैं तभी तो पता चलता है प्रेम के गहरे रंग का। इसका पता आपको कभी न चलेगा। सवेरे जो मालिन फूल दे जाती है···यहीं बैठ कर माला बनाती है···

कौमुदी—चम्पा···

नन्दिनी—हाँ···उसका पति उसे नित्य पीटता है और फिर अपने ही हाथ हल्दी पीस कर लेप भी करता है। वह कह रही थी···जितना प्रेम उसका पति करता है उसके साथ···उतना नागराज आपके साथ न करते होंगे।

कौमुदी—क्यों···इतना कह गई वह···(मुसकराती है)

नन्दिनी—सारी पीठ उसकी फूल गई है···कई जगह हल्दी लगी है···फिर भी देखिये तो···कहती है उसका पति उसे बहुत मानता है बहुत···।

कौमुदी—नित्य कोई कथा गढ़ लेती है।

नन्दिनी—अभी आयेगी···देख लीजियेगा उसकी पीठ···पति के प्रेम के कितने चित्र वहाँ बन गये हैं।

कौमुदी—फिर भी वह कहती है उसका पति प्रेम करता है?

नन्दिनी—हाँ देवपुत्री! बड़े चाव से···

कौमुदी—अच्छी बात···पूछूँगी उससे···

नन्दिनी—हाँ···हाँ···पूछ लीजियेगा···वह कहती है कि समूची काशी में कोई दूसरा पुरुष अपनी स्त्री को इस तरह प्यार नहीं करता जैसे उसका पति करता है।

कौमुदी—उसकी देह की दर्द इस तरह मिट जाती होगी। मैं सचमुच दुबली हो गई हूँ?

नन्दिनी—आपको पता नहीं चलता। हाथ का कंकण देखिये··· पहले गोल कलाई से सटा रहता था···अब···(कंकण को ऊपर चढ़ा कर) अब कहाँ पहुँचना है।

कौमुदी—पर मुझे इस अनुष्ठान में कोई कष्ट नहीं हुआ। एक समय का सात्विक आहार···दर्भासन पर धरती पर फैल कर सो रहना।

नन्दिनी—मथुरा की वह पुष्प सेज और काशी का यह भूमि-शयन (हँस पड़ती है।)

कौमुदी—पर इस भूमिशयन में जैसी नींद आई मुझे···वहाँ कभी नहीं आती थी।

नन्दिनी—जी···उस समय कुमारी की शय्या के सपने थे और कोई सुलाने वाला भी तो समीप नहीं था··

कौमुदी—(आँख तरेर कर) चुप।

नन्दिनी—इसी तरह···ऐसे ही देखें देवपुत्री! भौहें ऐसी ही कामदेव के धनुप सी···वरोनियाँ ऐसी ही तिरछी···ओठ इसी तरह दाँत के नीचे···

कौमुदी—नहीं मानेगी? अश्वमेध का अवभृथ स्नान अभी शेप है। क्या बातें करने लगी। रूप और प्रेम के लिए भी तपस्या आवश्यक है।

नन्दिनी—आपके बाल रूखे हो गये हैं। कौशेय सूत्र की लटें वन गई हैं···घड़ी भर में यह अनुष्ठान हो जांय···फिर···

कौमुदी—फिर क्या?

नन्दिनी—इस जटाजूट का संस्कार करूँ···अगुरु की गन्ध और पाटल स्नेह से सींच कर आज चोटी करूँगी···यूथिका की इस सूखी

माला को हटा कर…

कौमुदी—(हँस कर) इस जटाजूट में सुन्दर नहीं लगती मैं नन्दिनी ! सौन्दर्य ऊपर का होता है कि भीतर का…

नन्दिनी—(भावमुग्ध सी) तपस्विनी पार्वती का रूप ऐसा ही रहा होगा। पर देवपुत्री ! तपस्या का फल भी भोग है। भगवती पार्वती के लिए भी यही हुआ।

कौमुदी—तपस्या का फल भीतर की शान्ति है और जहाँ भीतर की शान्ति है वहाँ सभी फल सुलभ हैं। अभी इस शिवपुरी की शोभा मैं न देख सकी। मथुरा के दुर्ग से चल कर इस शिविर में बन्द हो गई, गंगा के तट का यह यज्ञमण्डप भागीरथी की धारा और शिविर… मेरे संसार की बस यही इतनी सीमा है यहाँ।

नन्दिनी—चम्पा के साथ मैं सब देख चुकी हूँ। एक एक कोना। गंगा की धारा इस पुरी के साथ बराबर लगी है…एक छोर से दूसरे छोर तक…दक्षिण में असी का जलप्रवाह और उत्तर में वरुणा का संगम…बीच में यह पुरी बसी है…मध्य में इसके हृदय से लगने को गंगा भीतर जा लगी है। उस पार से देखने पर इसका मानचित्र अर्धचन्द्र सा देख पड़ता है…ठीक उस चन्द्रमा सा जो शिव के ललाट पर है…नगरी और धारा दोनों का अर्धवृत्त…तप और भोग, रूप और विराग का यह संयोग इस धरती पर और कहीं नहीं मिलेगा। (नाक का पसीना पोंछती है)

कौमुदी—शब्दों का बड़ा सुन्दर चित्र खींच दिया तूने। (आँख मूँद कर) देख रही हूँ मैं भी अब इस शिवपुरी को मुँदी आँखों से। नगरी और गंगा की धारा दोनों अर्धवृत्त बना रही हैं। बीच में

भागीरथी इसके हृदय से मिलने को भीतर धँस आई है।

नन्दिनी—बस थोड़ी देर में अब यज्ञ समाप्त होगा। मण्डप में सभी लोग खड़े हो गये हैं। कुमार के शरीर पर फूल और अक्षत बरसाये जा रहे हैं।

कौमुदी—कहाँ...नन्दिनी! कहाँ...मुझे दिखा...(उत्सुक हो कर उठती है)

नन्दिनी—(उसकी बाँह पकड़ कर) यहाँ आइये...देखिये इस वातायन से...

कौमुदी—(धीमे स्वर में) आर्यपुत्र क्षीण हो गये हैं...फिर भी यज्ञ की समाप्ति पर उनकी आकृति में सूर्य का तेज है। बिना किसी विघ्न के यज्ञ समाप्त हो गया। देख नन्दिनी आर्यपुत्र पूर्णाहुति दे रहे हैं।

[शंख और वेद मन्त्रों की सम्मिलित ध्वनि]

नन्दिनी—अहा! आँखें नहीं अघातीं यह दृश्य देख कर। आचार्य भैरवीसिद्ध हाथ के गतिक्रम में जो मन्त्र पढ़ रहे हैं जैसे इन्द्र के यज्ञ में बृहस्पति हों।

कौमुदी—यह सब जानती है नन्दिनी तू...इस देश के देवों को और उनके गुरु को भी...

नन्दिनी—मुझे अब इसी देश में जीवन बिताना है देवपुत्री! इसके लिए इस देश के देवों को भी जानना होगा। यहाँ के लोग... नर नारी जैसे सोचते हैं...जिस तरह अपना निर्वाह करते हैं... वही सब मैं भी तो करती हूँ। जीयस और अपोलो यहाँ मेरे किस काम आयेंगे।

कौमुदी—(उसकी पीठ पर थपकी दे कर) अन्त तक मेरे साथ अकेली तू ही रह गई नन्दिनी ! और सब तो छोड़ कर चले गये··· देवपुत्र का एक भी सैनिक यहाँ तक कि भाई भी मुझे छोड़ गये।

नन्दिनी—पर आपको छोड़ कर मेरी कोई दूसरी भी गति थी क्या ?

कौमुदी—नन्दिनी ! मैं कहूँगी आर्यपुत्र से···

नन्दिनी—(उत्सुक हो कर) क्या कहेंगी ?

कौमुदी—वे तुम पर भी कृपा करें···तुझे भी अपने चरणों में···

नन्दिनी—तब अपनी दासी को आप अपने राज्य में भाग देंगी··· जो अकेले आपका है···उसमें मुझे साझी बनायेंगी ?

कौमुदी—तू मेरे साथ तब भी बनी रही जब मेरे सगे मुझे छोड़ कर चले गये। तुम अब मेरी बहन हो···दासी नहीं···जो कुछ मेरा वही तुम्हारा भी है।

नन्दिनी—दया करो देवपुत्री ! बहन बन कर भी मेरा सुख दासी बनने में ही है। आपकी सेवा का संस्कार जो मेरे भीतर पिछले आठ वर्षों से चला आ रहा है। उसकी जड़ें गहरे···मेरे प्राण में समा चुकी हैं। उनका उखड़ना जड़मूल से इस जीवन का उखड़ जाना होगा। (रो पड़ती है)

कौमुदी—आनन्द के अवसर पर आँसू···चुप···चुप···पागल रो रही है ?

नन्दिनी—आनन्द भीतर न समा सका···बाहर बह गया। देवपुत्री अब तक की दासी को अब अपने बराबर आसन देना चाहती हैं··· कल्पना में यह बात बहुत सुन्दर है पर इसका सत्य भयानक होगा।

कौमुदी—आर्यपुत्र की दया तू भी जानती है···अनुष्ठान के साधनपथ में अपनी चिन्ता न कर वे···

नन्दिनी—देवपुत्री की चिन्ता में लगे रहे···जिस समय वे आपकी ओर देखते रहे···अनुराग और कल्याण की किरणों में आप रँग जाती रहीं।

कौमुदी—इसी फल के लिए मेरा जन्म हुआ था नन्दिनी! भगवान शंकर का अनुग्रह था यह···देखो अब ऋत्विजों से घिरे··· (यज्ञ मण्डप की ओर हाथ उठाती है)

नन्दिनी—ऋषिमण्डली में इन्द्र से लग रहे हैं कुमार।

कौमुदी—अभी भी कुमार ही कहती जाओगी।

नन्दिनी—अभ्यास नहीं छूटता। गुण भले बदल जाय···नाम कहाँ बदलता है?

कौमुदी—ऋषिमण्डली में इन्द्र से नहीं···शंकर से लग रहे हैं वे। खुला वक्ष, प्रशस्त ललाट, यज्ञकुण्ड के भस्म से आच्छादित। यह रूप शंकर का है नन्दिनी! इन्द्र का नहीं···ललाट का त्रिपुण्ड और (अपने कण्ठ पर हाथ रख कर) यहाँ इतना नीला भाग··· नीलकण्ठ कहो···हाँ···कहो···

नन्दिनी—नीलकण्ठ···

कौमुदी—कहूँगी अवभृथ स्नान के समय···मेरे नीलकण्ठ···जो मान जायें तो हम दोनों के लिए उनका यही नाम रहेगा।

नन्दिनी—और तब देवपुत्री पार्वती हैं।

कौमुदी—क्यों नहीं···प्रभु की ओर जो मेरा प्रेम उतना ही गंभीर अमोघ हो।

[मंत्रों के साथ स्वाहा, शंख और तूर्य की ध्वनि]

नन्दिनी—देवपुत्री ! अब आ रहे हैं इधर···

कौमुदी—(काँप कर पसीज उठती है) पकड़ ले मुझे···हर्ष का यह समुद्र मुझे बोरना चाहता है···पैर काँप रहे हैं नन्दिनी !

[नन्दिनी उसे दोनों हाथों से पकड़ती है। कौमुदी का सिर उसके कंधों पर टिक जाता है]

नन्दिनी—(उत्साह में) गाँठ जोड़ कर अब दम्पति गंगा में स्नान करेंगे।

कौमुदी—इतने लोगों में···लाज लगेगी··· (स्वर काँप रहा है)

नन्दिनी—अश्वमेध पराक्रम नागराज के साथ गाँठ जोड़ने में लाज···कब किस रमणी का यह भाग्य रहा ?

वीरसेन—(प्रवेश कर) देवी ! क्या है नन्दिनी ! स्वस्थ तो हैं ? (आगे बढ़ कर उसे पकड़ कर खड़ा करता है) चित्त कैसा है ?

कौमुदी—(संकोच में) ठीक है···(नीचे देखने लगती है)

वीरसेन—तब···यह दशा क्यों है ?

कौमुदी—कुछ नहीं···हर्ष भी कभी-कभी आघात करता है। वहाँ ऋत्विजों में घिरे शंकर की तरह देख कर मैं विवश हो गई···रोक न सकी अपने को···

वीरसेन—भक्त को भगवान नहीं बनाते।

कौमुदी—भगवान बराबर भक्त को अपने बराबर बना लेते हैं।

वीरसेन—(उसके सिर पर हाथ फेर कर) अन्तिम स्नान शेष है अब देवी ! तुम्हारे पुण्य से यह पहला अश्वमेध समाप्त हुआ।

कौमुदी—मेरे पुण्य से आर्यपुत्र···कब क्या पुण्य मैंने किया ?

पेड़ की छाया-सी देव की छाया मात्र हूँ मैं···

[नन्दिनी का प्रस्थान। वीरसेन कौमुदी के साथ वहीं दर्भासन पर बैठ जाता है।]

वीरसेन—स्मरण है देवी प्रमदवन वाला वह मदनोत्सव···(उसकी ओर देखता है)

कौमुदी—(मुसकरा कर नीचे देखती हुई) वह भी भूला जा सकेगा···उसी दिन मेरे हृदय में वह रागिनी बजी थी···

वीरसेन—(दृढ़ विश्वास की मुद्रा) पहली बार देवी ने मेरी ओर देखा···मैं देख न सका। मेरी आँखें नीचे झुक गईं।

कौमुदी—पर मैं तो चाहती थी···किसी प्रकार उन आँखों के भीतर देखूँ।

वीरसेन—अपनी हीनता की भँवर में डूबने लगा मैं। देवपुत्र वासुदेव की राजकुमारी और मैं सामान्य साहसिक···निश्चय ही मेरे कुल के साहस में देश की मुक्ति की कामना थी···फिर भी विन्ध्य परंपरा में छिप कर प्राण बचाने वाला नाग सैनिक मैं कुषाण साम्राज्य को धरती पर गिराना चाहता था।

कौमुदी—कोई बात नहीं···वीर का धर्म यही है। ऐसा न करना ही आर्यपुत्र के व्रत के विरुद्ध होता।

वीरसेन—इस अश्वमेध का संकल्प मेरे मन में तभी जगा था। अंगारक मुझे आँखों से ही पी जाना चाहता था। देवपुत्री मेरी ओर आकर्षित हो रही हैं यह वह सह नहीं सका। इस अश्वमेध की कामना में तुम्हारे योग्य बनने का भाव था। पराजित दास देवपुत्री की कृपा कैसे लेता? प्रणय में भी कुल और शील की समानता होती

कौमुदी—कितने वृक्ष, लताकुंज, कदलीवन इनके आहार में लगते होंगे ?

वीरसेन—ऐसे तीन गजयूथ मेरी सेना में है···यवनसुन्दरी ! यह जो तुम देख रही हो केवल एक यूथ कान्तिपुरी का है।

नन्दिनी—इनके चलने पर पर्वत हिलता होगा !

वीरसेन—विन्ध्यमेखला के वन पर्वत इनके आघात से काँपते रहते हैं। विन्ध्यवासिनी के निकट हाथी अपने जन्म के वातावरण में···घने वन, पर्वत और गंगा के जल से पुष्ट होते हैं। सात सौ वर्ष पहले वत्सराज उदयन का गजयूथ भी यहीं रहता था।

कौमुदी—आर्यपुत्र !

वीरसेन—कहो देवी !

कौमुदी—उस मदनोत्सव में मुझे अपना भाग्य क्यों न देख पड़ा ?

वीरसेन—पर मुझे अपना देख पड़ा था देवी ! उसी क्षण मैंने देख लिया···इस स्थान से देवपुत्री अपनी सेना के एक ही गजयूथ से विस्मित हो रही हैं। (मन्द मुसकान)

कौमुदी—और यूथ कहाँ रहते हैं ?

वीरसेन—विदिशा और पद्मावती में···देवी की जन्मभूमि मथुरा में एक बड़ा गजयूथ मैं रक्खूँगा···पर गर्मी में वहाँ पानी की कमी होती है।

कौमुदी—यमुना में दह बनवा दिया जायेगा।

वीरसेन—तुम इच्छा करो तो मैं···

कौमुदी—क्या···

वीरसेन—चाहूँगा कि आकाश के तारे भी तोड़ लूँ।

कौमुदी—सच है देव !···ऊ···हूँ···ऐसा होता तो उस मदनोत्सव में एक बार भी तो मेरी आँखों में देख कर···मेरा हृदय देखते।

वीरसेन—देवी ! वह असंयम होता। बौने का चन्द्रमा छूना होता···हँसी का पात्र बनना नहीं चाहता था मैं···फिर भी अंगारक ने देख लिया उसकी पुष्करिणी का ग्राह मैं हूँ···

कौमुदी—कोई पुष्करिणी थी भी उसके हृदय में···जिसमें कमल लिखे हों ?

वीरसेन—कमल न सही···सेवार तो उगी थी ही उसमें···

कौमुदी—नन्दिनी कहती है···वह स्थान देखने को···जहाँ कुमार अंगारक गिरे थे।

नन्दिनी—नहीं श्रीमान्···देवपुत्री अपने मन की बात मेरे मुँह में रख रही हैं।

वीरसेन—कभी और भी रक्खा है नन्दिनी या आज ही···

नन्दिनी—प्रमदवन में रंग का कलश जो मैंने आप पर उँडेला था वह अपने मन से नहीं···देवपुत्री के कहने से···मैं तो पहले डरती थी।

कौमुदी—हाँ···हाँ···रंग तूने गिराया और मेरा नाम ले रही है। देखूँगी वह धरती मैं आर्यपुत्र !

वीरसेन—कौन धरती देवी !

कौमुदी—आपका प्रतिद्वन्द्वी जहाँ गिरा था और आपने कृपा कर जहाँ अपने हाथ से उसकी चिता में आग दी थी।

वीरसेन—स्नान के बाद याचकों को पहले दान···फिर अतिथियों के भोजन के बाद हम भी आज अन्न ग्रहण करें और तब माण्डलीकों

कौमुदी—कितने वृक्ष, लताकुंज, कदलीवन इनके आहार में लगते होंगे ?

वीरसेन—ऐसे तीन गजयूथ मेरी सेना में है···यवनसुन्दरी ! यह जो तुम देख रही हो केवल एक यूथ कान्तिपुरी का है।

नन्दिनी—इनके चलने पर पर्वत हिलता होगा !

वीरसेन—विन्ध्यमेखला के वन पर्वत इनके आघात से काँपते रहते हैं। विन्ध्यवासिनी के निकट हाथी अपने जन्म के वातावरण में···घने वन, पर्वत और गंगा के जल से पुष्ट होते हैं। सात सौ वर्ष पहले वत्सराज उदयन का गजयूथ भी यहीं रहता था।

कौमुदी—आर्यपुत्र !

वीरसेन—कहो देवी !

कौमुदी—उस मदनोत्सव में मुझे अपना भाग्य क्यों न देख पड़ा ?

वीरसेन—पर मुझे अपना देख पड़ा था देवी ! उसी क्षण मैंने देख लिया···इस स्थान से देवपुत्री अपनी सेना के एक ही गजयूथ से विस्मित हो रही हैं। (मन्द मुसकान)

कौमुदी—और यूथ कहाँ रहते हैं ?

वीरसेन—विदिशा और पद्मावती में···देवी की जन्मभूमि मथुरा में एक बड़ा गजयूथ मैं रक्खूँगा···पर गर्मी में वहाँ पानी की कमी होती है।

कौमुदी—यमुना में दह बनवा दिया जायेगा।

वीरसेन—तुम इच्छा करो तो मैं···

कौमुदी—क्या···

वीरसेन—चाहूँगा कि आकाश के तारे भी तोड़ लूँ।

कौमुदी—सच है देव !…ऊ…हूँ…ऐसा होता तो उस मदनोत्सव में एक वार भी तो मेरी आँखों में देख कर…मेरा हृदय देखते।

वीरसेन—देवी ! वह असंयम होता। बौने का चन्द्रमा छूना होता…हँसी का पात्र वनना नहीं चाहता था मैं…फिर भी अंगारक ने देख लिया उसकी पुष्करिणी का ग्राह मैं हूँ…

कौमुदी—कोई पुष्करिणी थी भी उसके हृदय में…जिसमें कमल लिखे हों ?

वीरसेन—कमल न सही…सेवार तो उगी थी ही उसमें…

कौमुदी—नन्दिनी कहती है…वह स्थान देखने को…जहाँ कुमार अंगारक गिरे थे।

नन्दिनी—नहीं श्रीमान्…देवपुत्री अपने मन की वात मेरे मुँह में रख रही हैं।

वीरसेन—कभी और भी रक्खा है नन्दिनी या आज ही…

नन्दिनी—प्रमदवन में रंग का कलश जो मैंने आप पर उँडेला था वह अपने मन से नहीं…देवपुत्री के कहने से…मैं तो पहले डरती थी।

कौमुदी—हाँ…हाँ…रंग तूने गिराया और मेरा नाम ले रही है। देखूँगी वह धरती मैं आर्यपुत्र !

वीरसेन—कौन धरती देवी !

कौमुदी—आपका प्रतिद्वन्द्वी जहाँ गिरा था और आपने कृपा कर जहाँ अपने हाथ से उसकी चिता में आग दी थी।

वीरसेन—स्नान के वाद याचकों को पहले दान…फिर अतिथियों के भोजन के वाद हम भी आज अन्न ग्रहण करें और तव माण्डलीकों

के साथ चल कर वह स्थान भी देखें···

कौमुदी—(उत्सुक हो कर) आज ही···

वीरसेन—विश्वनाथ का दर्शन तुम नित्य करती रही हो। विन्ध्य-वासिनी का दर्शन करना है आज ही···रास्ते में वह रेती पड़ेगी जहाँ अंगारक गिरा था।

वज्रसेन—(प्रवेश कर) आचार्य ऋत्विजों के साथ तीर पर पहुँच गये हैं। उनका कुछ सन्देश भी है।

कौमुदी—(उत्सुक हो कर) क्या···

वज्रसेन—काशी की देवियाँ पथ के उत्तर फूल और अक्षत लिये खड़ी हैं···दक्षिण माण्डलीकों की पंक्ति है···देवी सिर नीचे कर विनय में चलेंगी।

कौमुदी—आर्यपुत्र, सिर नीचे कर चलने का अभ्यास मेरा नहीं है। जो मुझे देखें उन सब को मैं भी देखूँ···(मन्द हँसी)

वीरसेन—दो आँखों से इन लाख-लाख आँखों में कितनी देखोगी प्रिये!

कौमुदी—मेरी दृष्टि की रेखा इस ओर से उस छोर तक घूम जायेगी···उसी में सब आ जायेंगे।

वीरसेन—दोनों ओर एक ही साथ···वज्रसेन! देवी दोनों ओर एक ही साथ देखेंगी। (दोनों हँसते हैं)

कौमुदी—(सहम कर) सब एक ओर न हो जायेंगे···सेनापति सब को एक ओर करो।

वज्रसेन—महादेवी! दोनों ओर खड़े होने पर भी तिल धरने को ठौर नहीं है···देह से देह छिल रही है लोगों की···और फिर देवियों

के साथ इस भीड़ में खड़ा होना पुरुष न चाहेंगे। उत्साह के इस समुद्र में उनसे कहेगा भी कौन ?

कौमुदी—तब ठीक है···जो सिर कभी न झुका आज झुके···

वीरसेन—अपने फूल के भार से लता झुकती है···

कौमुदी—और फल के भार से···

वीरसेन—वृक्ष···

कौमुदी—हम दोनों झुकेंगे···दोनों का सिर एक साथ ही नत रहेगा।

वीरसेन—हाँ अब चलो···

कौमुदी—कैसे चलूँ अकेली···(उसकी ओर उत्कण्ठा में देखती है)

वीरसेन—मेरी बाईं ओर···मेरा हाथ पकड़ कर···यश, पुण्य और प्रेम में सिर का झुकना ही धर्म है और इन तीनों का भार तुम पर है प्रिये !

[वीरसेन के सहारे कौमुदी शिविर के बाहर निकल कर, दोनों ओर की भीड़ के बीच में गंगा की ओर बढ़ती है। वज्रसेन और अघोर भट्ट क्रम से आगे और पीछे हैं। दोनों पार्श्व में सशस्त्र प्रहरी कन्धा ऊँचा कर खड़े हैं। दर्शक शंखनाद और जय ध्वनि करते हैं।]

कई कण्ठ—हर···हर···महादेव···अश्वमेध पराक्रम वीरसेन की जय···महादेवी कौमुदी की जय···जय···

स्त्री कण्ठ—(किनारे से कौमुदी को देख कर) देखो सखी···ब्रज की राधा जैसी···

दूसरी—हिमालय की पार्वती जैसी···यह रंग पर्वत का है···पृथ्वी का नहीं।

[फूल, अक्षत और लावा की वर्षा होने लगती है]

कौमुदी—(मन्द स्वर में) *आर्यपुत्र ! सम्हालिये···भाग्य का यह भार चल नहीं रहा है···फूल और अक्षत की वर्षा से अँधेरा हो गया है ।* (आँख मूँद कर ठिठक जाती है)

वीरसेन—(उसके सिर पर हाथ रख कर) *भाव में न भूल जाओ देवी···सजग हो कर चलो···मेरे हाथ के सहारे···अब गङ्गा के तीर आ गये । हाँ देखो···*

कौमुदी—यहीं से जल···सिर पर मेरे डालो आर्यपुत्र ! हाँ पहले सिर पर···

वीरसेन—देवपुत्री भी जानती हैं इस देश में गंगा का जल पहले सिर से स्पर्श किया जाता है···चरण से नहीं ?

[झुक कर हाथ में जल उठा कर पहले कौमुदी के फिर अपने सिर पर चढ़ाता है । दर्शक हर्षनाद करते हैं ।]

कौमुदी—(जल में उतरती हुई···) *कितना गहरा होगा ?*

भैरवीसिद्ध—(जल के भीतर आगे से) *यहाँ गंगा भी आपके लिए उथली हैं···निर्भय चले आइये···*

वीरसेन—(मन्द स्वर में) *कण्ठ तक जल में···गंगा में आज एक कमल खिले ।*

कौमुदी—(वीरसेन के कान के निकट) *दो कमल···एक क्यों ?*

वीरसेन—(उसकी बाँह पकड़ कर) *हाँ···डुबकी लें एक साथ···*

[दोनों साथ डुबकी लेते हैं । तीर पर मन्त्र और शंख का स्वर होता है]

वीरसेन—प्रिये !

कौमुदी—हाँ···आर्यपुत्र !

वीरसेन—इसी तरह⋯भगवती भागीरथी के अंक में⋯गाँठ जोड़े हम संकल्प करें।

कौमुदी—करें⋯

वीरसेन—गंगा के इसी तट पर दस अश्वमेध की माला बने⋯

कौमुदी—इसी तट पर⋯

वीरसेन—इसी तट पर जहाँ मेरा पहला अश्वमेध पूरा हुआ⋯ इस स्थान का नाम अब दशाश्वमेध हो।

भैरवीसिद्ध—(जल के सामने) दशाश्वमेध पुत्र⋯

वीरसेन—हाँ आचार्य⋯देवी के साथ मैंने संकल्प लिया है इसी स्थान पर दस अश्वमेध के लिए⋯जो मुझसे न हो⋯मेरे कुल के भारशिव नाग करें⋯और जो उनसे शेष रहे⋯

भैरवीसिद्ध—तुम्हारा संकल्प पूरा होगा पुत्र! अपनी कामना भगवान भूतनाथ को यहीं से सुना दो।

वीरसेन—भारशिव कुल के आराध्य भूतभावन! आपकी दया से प्रत्यन्त के कुषाण सिन्ध के उस पार भाग रहे हैं। अन्तर्वेद के रक्षक आज देव के सेवक हैं। देवपुत्री आज आपके सेवक की भार्या हैं⋯ इस भूमि में अश्वमेध की परम्परा बने⋯दस अश्वमेधों की⋯इस तट का नाम आज ही से दशाश्वमेध हो।

कई कण्ठ—(तीर पर) दशाश्वमेध⋯दशाश्वमेध⋯यह तट अब दशाश्वमेध है।

वीरसेन—देश का विक्रम कभी धूमिल न हो⋯

कई कण्ठ—(तीर पर) तथास्तु।

कौमुदी—दशाश्वमेध की इस पुण्यभूमि के साथ दासी की कामना

भी अमर हो...

भैरवीसिद्ध—तुम्हारे भीतर महामाया का अंश है भगवती... दशाश्वमेध की मूल शक्ति तुम्हीं हो।

कौमुदी—(हाथ जोड़ कर) आचार्य...इसी के लिए...इसी फल के लिए अपनी जन्मभूमि का अधिकार न छोड़ सकी। देवपुत्रों के यश में कलंक बन कर मैं यहीं रह गई।

वीरसेन—इतना ही नहीं प्रिये! तुमने अपने भाई को छोड़ दिया इस सेवक के लिए।

भैरवीसिद्ध—बोलो...बोलो...भगवती कौमुदी की जय...

अनेक कण्ठ—(तीर पर) कौमुदी भगवती की जय...जय...

[इस जय ध्वनि की प्रतिध्वनि देर तक वातावरण में गूँजती रहती है। कौमुदी वीरसेन के कन्धे पर सिर रख कर हिलने लगती है।]

वीरसेन—(उसे दोनों हाथों से पकड़ कर) मेरे पराक्रम की आदि शक्ति...यह क्या...

कौमुदी—(सिसक कर) आर्यपुत्र!

वीरसेन—कहो...

कौमुदी—बाहर चलें...अब शीत लग रहा है।

वीरसेन—जल का नहीं...हृदय के संतोष का शीत है यह। नन्दिनी!

नन्दिनी—(जल में घुस कर) आई देव!

वीरसेन—महादेवी को सँभालो।

[शंख, तूर्य और मन्त्रों की ध्वनि]

कौमुदी—(तीर पर निकल कर किनारे पर की देवियों को हाथ

जोड़ कर) दासी प्रणाम करती है आप सब को भगवती !

कई स्त्री कण्ठ—तुम्हें प्रणाम कर आज हम धन्य होंगी महामाया। तुम्हारा जन्म उन्हीं के अंश से है। विन्ध्यवासिनी के पुजारी झूठ नहीं कहते।

भैरवीसिद्ध—(तीर पर निकल कर) नागराज की कामना पूरी हो···भगवान भूतनाथ पूरी करें उसे···दशाश्वमेध की इस भूमि पर दस अश्वमेध हों···उनके कर्त्ता चाहे जो हों···भूमि यही रहे।

दो स्त्रियाँ—(कौमुदी को पकड़ कर) जब तक गंगा में जल रहे··· तुम्हारा सौभाग्य अचल हो।

वीरसेन—मैं संकल्प करता हूँ आचार्य ! इस पुरी में विश्वनाथ का मन्दिर बनवा कर विन्ध्याचल में विन्ध्यवासिनी का मन्दिर बनवाऊँगा। तब पद्मावती आकर में शंकर के दो विशाल मन्दिर···

भैरवीसिद्ध—स्थान का चुनाव महादेवी के साथ मैं करूँगा। आप लोग···सभी नर-नारी···ब्रह्मचारी, गृहस्थ, साधक, सिद्ध, पण्डित और ऋत्विज आशीर्वाद दें···इस देश का इतिहास भारशिव नागों की तरह बराबर इस देश के वीरों के खड्ग से लिखा जाय।

कई कण्ठ—तथास्तु।

[पर्दा गिरता है]

भी अमर हो...

भैरवीसिद्ध—तुम्हारे भीतर महामाया का अंश है भगवती... दशाश्वमेध की मूल शक्ति तुम्हीं हो।

कौमुदी—(हाथ जोड़ कर) आचार्य...इसी के लिए...इसी फल के लिए अपनी जन्मभूमि का अधिकार न छोड़ सकी। देवपुत्रों के यश में कलंक बन कर मैं यहीं रह गई।

वीरसेन—इतना ही नहीं प्रिये! तुमने अपने भाई को छोड़ दिया इस सेवक के लिए।

भैरवीसिद्ध—बोलो...बोलो...भगवती कौमुदी की जय...

अनेक कण्ठ—(तीर पर) कौमुदी भगवती की जय...जय...

[इस जय ध्वनि की प्रतिध्वनि देर तक वातावरण में गूँजती रहती है। कौमुदी वीरसेन के कन्धे पर सिर रख कर हिलने लगती है।]

वीरसेन—(उसे दोनों हाथों से पकड़ कर) मेरे पराक्रम की आदि शक्ति...यह क्या...

कौमुदी—(सिसक कर) आर्यपुत्र!

वीरसेन—कहो...

कौमुदी—बाहर चलें...अब शीत लग रहा है।

वीरसेन—जल का नहीं...हृदय के संतोष का शीत है यह। ...नी!

नन्दिनी—(जल में घुस कर) आई देव!

वीरसेन—महादेवी को सँभालो।

[शंख, तूर्य और मन्त्रों की ध्वनि]

कौमुदी—(तीर पर निकल कर किनारे पर की देवियों को हाथ

जोड़ कर) दासी प्रणाम करती है आप सब को भगवती !

कई स्त्री कण्ठ—तुम्हें प्रणाम कर आज हम धन्य होंगी महामाया। तुम्हारा जन्म उन्हीं के अंश से है। विन्ध्यवासिनी के पुजारी झूठ नहीं कहते।

भैरवीसिद्ध—(तीर पर निकल कर) नागराज की कामना पूरी हो···भगवान भूतनाथ पूरी करें उसे···दशाश्वमेध की इस भूमि पर दस अश्वमेध हों···उनके कर्त्ता चाहे जो हों···भूमि यही रहे।

दो स्त्रियाँ—(कौमुदी को पकड़ कर) जब तक गंगा में जल रहे··· तुम्हारा सौभाग्य अचल हो।

वीरसेन—मैं संकल्प करता हूँ आचार्य ! इस पुरी में विश्वनाथ का मन्दिर बनवा कर विन्ध्याचल में विन्ध्यवासिनी का मन्दिर बनवाऊँगा। तब पद्मावती आकर में शंकर के दो विशाल मन्दिर···

भैरवीसिद्ध—स्थान का चुनाव महादेवी के साथ मैं करूँगा। आप लोग···सभी नर-नारी···ब्रह्मचारी, गृहस्थ, साधक, सिद्ध, पण्डित और ऋत्विज आशीर्वाद दें···इस देश का इतिहास भारशिव नागों की तरह बराबर इस देश के वीरों के खड्ग से लिखा जाय।

कई कण्ठ—तथास्तु।

[पर्दा गिरता है]

